बदलता हुआ संघ प

और मध्यमार्गी विमर्श की जड़ता

अभय कुमार दुबे

परिवार

(ऊपर) संघ के तीसरे सरसंघचालक बाला साहेब देवरस

(नीचे) केरल में संघ की एक शाखा में स्वयंसेवक दण्ड-क्रमिकाओं का अभ्यास करते हुए.

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में बहुसंख्यकवाद विरोधी विमर्श (लेख में आगे इसके लिए 'मध्यमार्गी विमर्श'* अभिव्यक्ति का इस्तेमाल किया गया है) द्वारा स्थापित और प्रचलित समझ का सूत्रीकरण कुछ इस प्रकार किया जा सकता है : 'संघ की हिंदुत्ववादी विचारधारा मनुस्मृति प्रदत्त वर्णवाद या ब्राह्मणवाद की पैरोकार है। यह संगठन फ़ासीवाद की भारतीय क़िस्म की नुमाइंदगी करता है। इसकी कोशिश है कि बहुलतावादी हिंदू समाज का सामीकरण कर दिया जाए। उसका राजनीतिक संगठन भाजपा मुख्य तौर पर एक शहरी और अमीरपरस्त रुझानों वाली ब्राह्मण-बनिया पार्टी है। ग़रीबों, अनुसूचित जातियों और पिछड़ों के साथ भाजपा का संबंध दरअसल एक छलपूर्ण रिश्ता है जो दरअसल इन समुदायों को ज़्यादा से ज़्यादा हिंदुत्व का अल्पसंख्यक विरोधी लठैत (फ़ुट सोल्जर) बना कर रख देगा। हिंदू राष्ट्रवाद स्थापित करने के लिए की गयी इन समुदायों की गोलबंदी ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था की निरंतरता बनाए रखने के काम आएगी। रामजन्मभूमि आंदोलन भी अन्य पिछड़े वर्गों को दिये गये आरक्षण की प्रतिक्रिया में ही शुरू किया गया था। दरअसल, भाजपा आरक्षण का ऊपरी तौर पर ही समर्थन करती है, वास्तव में वह उसकी विरोधी है।'

संघ परिवार और भाजपा को देखने की यह दृष्टि सत्तर के दशक की शुरुआत से ही जड़ीभूत है। प्रश्न यह है कि सत्तर के दशक से पहले क्या स्थिति थी? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने से यह पता लग सकता है कि इस सूत्रीकरण की विमर्शी जड़ कहाँ है। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के इतिहास पर एक दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि उस दौरान कांग्रेस, नेहरू, गाँधी और सुभाष चंद्र बोस एक साथ हिंदू और मुसलमान साम्प्रदायिकताओं से संघर्ष में उलझे हुए थे।[1] विमर्श का विन्यास भी इसी के मुताबिक़ दोतरफ़ा था। विभाजन के कारण बदली हुई परिस्थितियों में हिंदू साम्प्रदायिकता को अधिक ख़तरनाक बताने की थीसिस सामने आयी। अपने प्रधानमंत्री बनने के बाद ग्यारह साल तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर चौकन्नी निगाह रखने के बाद 11 मई, 1958 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के खुले जलसे में नेहरू ने इसका प्रवर्तन किया। लेकिन यह प्रवर्तन भी तुलनात्मक लहजे में

* इस निबंध में मैंने बहुसंख्यकवाद विरोधी विमर्श को मध्यमार्गी विमर्श का समेकित नाम दिया है. यह मध्यमार्गी विमर्श क्या है? भारतीय उदारतावाद के मर्म की रचना करने वाला यह विमर्श वामपंथी, दक्षिणपंथी, सेकुलरवादी, राष्ट्रवादी, संस्कृतिवादी, आधुनिकतावादी, आम्बेडकरवादी, संविधानपरक, बहुलतावादी, समतावादी और बाज़ारवादी-विकासवादी विचारों के विविध अंशों से मिल कर बना है. इसमें हिंदू-दर्शन, भारतीय इस्लाम और भारतीय ईसाईयत एवं बौद्ध-जैन दर्शन से निकली विचार-श्रेणियाँ भी शामिल हैं। लेकिन इसमें न हिंदुत्ववादी विचार शामिल है, और न ही माओवादी. यद्यपि इस विमर्श के कई बेहतरीन पैरोकार स्वयं को वामपंथी मानने से परहेज़ भी करते हैं, और स्पष्ट रूप से दक्षिणपंथी प्रवृत्तियाँ भी इसके दायरे में स्वयं को अभिव्यक्त करती हैं, लेकिन फिर भी मुझे इसका रुझान कुल मिला कर वामपंथी ही लगता है. इसमें दक्षिणपंथ और परम्परानिष्ठता का दावा करने वाला अनुदारतावाद भी शामिल है, इसलिए इसके भीतर अकसर वाम और दक्षिण का तनाव भी पाया जाता है. कई विद्वानों ने इसे परिभाषित करने की कोशिश की है. रजनी कोठारी के शब्दों में 'वामपंथ की ओर झुकी मध्यमार्गी राजनीति' इसी विमर्श से निकलती है. चूँकि अपनी जटिल संरचना में यह पश्चिमी उदारतावाद से भिन्न है, इसलिए राजीव भार्गव इसे 'उदारतावादी लोकतांत्रिक विमर्श का भारतीय संस्करण' क़रार देते हैं. आदित्य निगम ने जिस 'बराबरी और हक़ की ज़ुबान और कलाम' की निशानदेही की है, उसकी अभिव्यक्ति भी इसी मध्यमार्गी विमर्श के दायरे में होती रही है.

अपनी तरलता, लचीलेपन और सर्वसमावेशी रवैये के कारण आज़ादी के बाद से ही इस विमर्श ने बदलते हुए घटनाक्रम के मुताबिक़ हर नयी प्रवृत्ति को अपने आगोश में समेट कर बार-बार अपना नवीकरण करने में सफलता प्राप्त की है. हर प्रभावशाली और टिकाऊ विमर्श की तरह इसने भी सामाजिक-राजनीतिक आचरण-संहिताओं, नाना प्रकार की सामाजिक और व्यक्तिगत आत्मनिष्ठताओं और सत्ता-संबंधों के साथ मिल कर एक आम समझ की रचना की है जिसके ज़रिये समाज और राजनीति को परिभाषित किया जाता है. यह प्रचलित आम समझ ही वह सर्वसुलभ ज्ञान है जिसके द्वारा मुहैया कराए गये विश्लेषणात्मक औज़ारों का इस्तेमाल करके मेरे जैसे लोग नयी परिघटनाओं का अर्थग्रहण करते रहे हैं.

न जाने कितने पत्रकारों, समाज-वैज्ञानिकों, ग़ैर-सरकारी क्षेत्रों में सक्रिय कार्यकर्ताओं, टीवी और अख़बारों में लिखने वाले टिप्पणीकारों एवं सृजनशील क्षमताओं से सम्पन्न हस्तियों का बौद्धिक जीवन इसी प्रचलित आम समझ की ख़ुराक पर गुज़रता रहा है. दिक़्क़त यह है कि भारतीय राजनीति के इस मुक़ाम पर मध्यमार्गी-विमर्श राजनीतिक घटनाक्रम के मर्म को पकड़ने में असमर्थ हो कर खोया-खोया-सा और किंकर्तव्यविमूढ़ लग रहा है.

[1] 1938 में जब सुभाष चंद्र बोस कांग्रेस के अध्यक्ष थे तो नेहरू के साथ मिल कर उन्होंने प्रस्ताव पास करवाया था कि हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग जैसे साम्प्रदायिक संगठनों का कोई भी सदस्य कांग्रेस का पदाधिकारी नहीं बन सकता. इससे पहले 1927-28 में नेहरू और बोस ने जब इंडिपेंडेंस ऑफ़ इण्डिया लीग की शुरुआत की तो उसमें, हिंदू हो या मुसलमान, किसी भी साम्प्रदायिक तत्त्व को सदस्यता देने के ख़िलाफ़ प्रतिबंध था.

था।[2] मुस्लिम साम्प्रदायिकता की 'शरारती' उपस्थिति के प्रति चौकन्नापन नेहरू के वक्तव्यों में आम तौर पर मौजूद रहा। उस ज़माने की बहसों (जैसे हिंदू विवाह क़ानून पर बहस में आचार्य कृपलानी द्वारा नेहरू को दी गयी चुनौती) में भी हिंदू और मुसलमान साम्प्रदायिकता पर एक साथ और एक-दूसरे के संदर्भ में चर्चा दिखाई देती है।[3] साठ के दशक के समाज-वैज्ञानिक विमर्श में भी मुसलमान राजनीति के सेकुलरीकरण के स्तर को लेकर चिंताएँ दिखाई पड़ती हैं। इस दौरान मुस्लिम समाज के भीतरी सेकुलरीकरण और आधुनिकीकरण की वक़ालत करने वाले हामिद उमर दलवई सक्रिय थे और उन्होंने *मुस्लिम पॉलिटिक्स इन सेकुलर इण्डिया* लिख कर अल्पसंख्यक राजनीति द्वारा मुसलमानों में विभाजन से पहले की मानसिकता पालने-पोसने के रवैये की कड़ी आलोचना की थी। 1969 में जब इम्तियाज़ अहमद ने अपनी बेहतरीन रचना 'सेकुलरिज़्म ऐंड कम्युनलिज़्म' लिखी तो उसमें भी दोनों साम्प्रदायिकताओं की अभिव्यक्तियों का विश्लेषण मौजूद था।[4]

लेकिन इसके बाद तत्संबंधित समाज-वैज्ञानिक साहित्य में हिंदू साम्प्रदायिकता पर अलग और मुसलमान साम्प्रदायिकता पर अलग-अलग खानों में विचार करने की प्रवृत्ति पैदा होते हुए दिखती है। सत्तर का दशक ही वह समय है जब के.के. गंगाधरन की कृति *सोसियोलॅजी ऑफ़ रिवाइवलिज़्म* प्रकाशित होती है,[5] और इसी दौरान भारतीय समाज-विज्ञान अनुसंधान परिषद (आईसीएसएसआर) द्वारा राजनीतिशास्त्र की दशा-दिशा पर की गयी एक बड़ी विचार-गोष्ठी में 'रिलीजन इन पॉलिटिक्स' जैसी विवादास्पद प्रस्तुति की जाती है।[6] गंगाधरन की कृति सिख या मुसलमान पुनरुत्थानवादों का संदर्भ लिए बिना हिंदू पुनरुत्थानवाद की व्याख्या करने का प्रयास करती है,[7] और पाले के दूसरी तरफ़ 'रिलीजन इन पॉलिटिक्स' द्वारा बिना हिंदू और सिख पुनरुत्थानवाद पर निगाह डाले हुए मुस्लिम पुनरुत्थानवाद की विवेचना की जाती है। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकताओं पर एक-दूसरे से बिना सूचित हुए अलग-अलग ग़ौर करने के कारण समाज-वैज्ञानिक विद्वत्ता की साम्प्रदायिकता

---

[2] आज़ादी के बाद नेहरू ने उप्र सरकार द्वारा विधानसभा के लिए ऐसे द्विसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र बनाने के प्रस्ताव का विरोध किया था जिनसे 53 मुसलमान सदस्य चुने जाने का प्रावधान था. इस तरह वे मुसलमान होने के आधार पर राजनीतिक आरक्षण देने का विरोध करते नज़र आते हैं. दूसरी तरफ़ 1958 के अपने मशहूर वक्तव्य में नेहरू का कहना था कि 'बहुसंख्यकों की साम्प्रदायिकता अल्पसंख्यकों की साम्प्रदायिकता से अधिक ख़तरनाक है क्योंकि वह राष्ट्रवाद के वस्त्र पहन कर आती है. इस तरह साम्प्रदायिकता हमारे भीतर बस जाती है और ज़रा से भड़कावे से ही वह बिना देर किये स्वयं को व्यक्त करने लगती है. इस साम्प्रदायिकता के प्रभाव में भद्र लोग भी बर्बरों की तरह व्यवहार करने लगते हैं.' इस वक्तव्य का इस्तेमाल मध्यमार्गी विमर्श के मुखर हिस्से द्वारा केवल हिंदू साम्प्रदायिकता के विरोध पर ज़ोर देने के लिए किया जाता है, लेकिन यह वक्तव्य कम से कम अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता को केवल अपेक्षाकृत कम ख़तरनाक ही मानता है.

[3] 1955 में हिंदू कोड बिल पर हुई संसदीय बहस में आचार्य कृपलानी (जो किसी भी तरह से दक्षिणपंथी नहीं थे) ने कहा था, 'मैं आप (नेहरू) पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाता हूँ क्योंकि आप केवल हिंदू समुदाय के लिए ही एकनिष्ठ विवाह का क़ानून ला रहे हैं. मैं कहता हूँ कि मुसलमान समुदाय भी इस तरह के क़ानून के लिए तैयार है, लेकिन आप में ऐसा करने की हिम्मत नहीं है'.

[4] केवल 45 वर्ष तक जीवित रहे और मुख्य तौर से मराठी के लेखक हामिद उमर दलवई उत्तर-औपनिवेशिक मुसलमान समाज द्वारा अपनी समस्याओं के बाह्यीकरण के ख़िलाफ़ थे. उनका मानना था कि हिंदुओं पर दोष मढ़ने के बजाय मुसलमानों की अपनी प्रमुख समस्या सामाजिक दक़ियानूसीपन के ख़िलाफ़ संघर्ष करना चाहिए. उनकी यह पुस्तक 1973 में हिंद पॉकेट बुक्स ने छापी थी. मध्यमार्गी विमर्श के मुखर हिस्से ने दलवई को काफ़ी कुछ भुला दिया है.1969 में लिखे इस लेख के पहले इम्तियाज़ अहमद ने 'इंडियन मुस्लिम्ज़ ऐंड इलेक्टोरल पॉलिटिक्स' में सवाल पूछा था कि जब तक मुसलमान उम्मीदवार ग़ैर-मुसलमान बहुल निर्वाचन क्षेत्र से जीतना शुरू नहीं करते तब तक यह कैसे समझा जा सकता है कि वे सेकुलर राजनीति के मुख्यधारा के अंग हो गये हैं ?

[5] संघ की आलोचना करने वाले साहित्य पर नज़र डालने से लगता है कि संघ को पुनरुत्थानवादी, ब्राह्मणवादी और वर्णाश्रम के मुताबिक़ समाज-व्यवस्था की स्थापना करने का आग्रही बताने का तर्क सम्भवत: पहली बार और सर्वाधिक व्यवस्थित रूप से के.के. गंगाधरन की 1970 में प्रकाशित पुस्तक *सोसियोलॅजी ऑफ़ रिवाइवलिज़्म : अ स्टडी ऑफ़ इंडियनाइज़ेशन, संस्कृताइज़ेशन ऐंड गोलवलकरिज़्म* में प्रस्तुत किया गया था. इसके बाद वामपंथी और उदारतावादी हलक़ों में गंगाधरन की इसी रचना से निकली समझ संघ के बारे में प्रमुख धारणाओं का थोड़े-बहुत हेरफेर के साथ निर्माण करती रही है.

[6] इस सेमिनार की विस्तृत रपट के लिए देखें, आर. श्रीनिवासन (1971). उनका कहना था कि विचारगोष्ठी में सबसे ज़्यादा बौद्धिक जद्दोजहद और तल्ख़ी इसी प्रस्तुति ने पैदा की. बाद में इम्तियाज़ अहमद (1971) ने *ईपीडब्ल्यू* में ही इस प्रस्तुति की विस्तृत आलोचना पेश की. उल्लेखनीय है कि इस तीन दिवसीय सेमिनार के पीछे रजनी कोठारी और विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) का हाथ था.

[7] गंगाधरन की कृति की इस प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना के लिए देखें, सुधा गोगटे (1973).

विरोधी समझ कुछ-एक अपवादों को छोड़ कर दो फाँक हो गयी। इस विभाजित विमर्श ने दो पूर्वग्रहग्रस्त विद्वत्ताओं को परवान चढ़ाया जो एक-दूसरे से सूचित होने के लिए मोटे तौर पर तैयार नहीं थीं। इन दोनों विमर्शी प्रवृत्तियों में एक बात मुश्तरका थी : ये दोनों राजनीतीकरण-आधुनिकीकरण-सेकुलरीकरण को एक ओर धर्म को दूसरी श्रेणी मान कर दोनों के बीच एक द्विभाजक संबंध कल्पित करती थीं। इससे कुछ इस तरह की समझ मज़बूत होती थी कि जैसे आधुनिकता से पहले की अवधि में राजनीति धर्ममय थी, जबकि आज के ज़माने में उसे लाज़िमी तौर पर धर्म के प्रभाव से पूरी तरह धुला-पुँछा होना चाहिए। ज़ाहिर है कि इन दोनों श्रेणियों के बीच की द्वंद्वात्मकता इस द्विभाजक बौद्धिक एजेंडे का अंग नहीं थी।

गंगाधरन की कृति ने समाज-वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति से मिल सकने वाली हर युक्ति का सही-ग़लत इस्तेमाल करके संघ विरोधी विमर्श का किरदार तय कर दिया। यह दिखाने के लिए कि संघ ब्राह्मणवादी ही नहीं चितपावनवादी संगठन है, वह आधुनिकीकरण के ख़िलाफ़ प्रतिक्रिया की नुमाइंदगी करता है और उसके विमर्श की जड़ें उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की तिलक जैसी हस्तियों के रवैये से जुड़ी हैं, गंगाधरन ने मनमाने तरीक़े से उद्धरणों का उनके संदर्भ से काट कर इस्तेमाल किया (गंगाधरन की इस कारीगरी पर इस अध्याय के आख़िर में रोशनी डाली जाएगी)। संघ विरोधी विमर्श गंगाधरन की बनाई हुई इसी परम्परा पर अभी तक चल रहा है।

इस विमर्श के दायरे में संघ परिवार से संबंधित समझ दो तरीक़ों से संसाधित हुई है। पहला तरीक़ा उसके दस्तावेज़ों और विचारधारात्मक दावेदारियों का विश्लेषण करने तक सीमित रहता है। दूसरा तरीक़ा कहता है कि दस्तावेज़ों में से कथोपकथन निकाल कर विश्लेषण तो बहुत हो चुका, अब तो संघ की व्यावहारिक राजनीति के विश्लेषण और विस्तृत अनुसंधान की ज़रूरत है। इस दूसरे रवैये के अनुसार, 'अकसर हम भाजपा के भीतर चल रही उथल-पुथल और रूपांतरण की अहमियत कम करके आँकते हैं' और हमारा ज़ोर इस संगठन को आम तौर पर उसकी घोषित विचारधारा के आईने में देखने पर रहता है। प्रतिष्ठित वामपंथी विद्वान ऐजाज़ अहमद कहते हैं : 'उनके (संघ के) दस्तावेज़ों में ज़्यादा से ज़्यादा शब्दस्फीति है और वे अपनी सामग्री की विवेकहीनता के कारण अपठनीय हैं। इसके विपरीत उनकी सांगठनिक गतिविधियों में अक्सर भयभीत कर देने वाली प्रतिभा दिखती है।' ज़ाहिरा तौर पर वे कहना चाहते हैं कि हिंदुत्ववादी राजनीति का अध्ययन केवल कार्यनीतिक-रणनीतिक पहलू से करना ही काफ़ी है, उसके विमर्श में दिमाग़ खपाना समय की बरबादी है।[8] दरअसल, ऐजाज़ अहमद की ही तर्ज़ पर नरम वामपंथी बौद्धिकता ने भी संघ के दस्तावेज़ न पढ़ने के तर्क विकसित कर लिए हैं। मसलन, इन विमर्शकारों के बीच यह तर्क बड़ा लोकप्रिय है कि संघ की दिलचस्पी हिंदू धर्म में है ही नहीं। हिंदू समाज की ख़ामियों पर ध्यान न दे कर वह तो केवल मुसलमानों की नकारात्मक चर्चा करता रहता है। इसी अध्याय में हम देखेंगे कि यह बौद्धिक प्रवृत्ति किस तरह यथार्थ के एकदम उलट है।

संघ को समझने के ये दोनों तरीक़े संघ के सिद्धांत और व्यवहार को अलग-अलग कर देते हैं। मैं इनसे अलग हटते हुए तर्क देना चाहता हूँ कि मध्यमार्गी-विमर्श से निकली प्रचलित समझ संघ परिवार की विचार-यात्रा को खुली आँखों देखने से इंकार करती है। इसीलिए वह संघ की परिवर्तनशील कार्यक्रमगत संहिताओं की गहरी और विस्तृत समझ से वंचित रह जाती है। संघ परिवार को देखने-समझने की यह

[8] यह टिप्पणी मुख्य तौर पर भाजपा के भीतर पिछले तीन साल में (नरेंद्र मोदी के उभार के बाद) हुए परिवर्तनों के मद्देनज़र की गयी है, लेकिन असल में यह उस आम रवैये पर फ़िट बैठती है जिसे मध्यमार्गी विमर्श के पैरोकार भाजपा और संघ परिवार के संबंध में अपनाते रहे हैं. देखें, प्रणब ढाल सामंत (2017). ऐजाज़ अहमद (2015) की टिप्पणी उनके जिस लेख से ली गयी है, वह वैसे तो हिंदुत्ववादी राजनीति की कई ज़रूरी बातों पर उँगली रखता है, लेकिन यह कहीं न कहीं अंग्रेज़ीदाँ बुद्धिजीवियों की उस समस्या की चुगली भी खाता है जो हिंदी और ख़ासकर संस्कृतनिष्ठ हिंदी में छपे विपुल दस्तावेज़ों में दिमाग़ खपाने के लिए तैयार नहीं है. संघ परिवार ने अपने बहुत कम दस्तावेज़ अंग्रेज़ी अनुवाद में उपलब्ध कराए हैं, और इन विद्वानों का हाथ हिंदी में या किसी भी भारतीय भाषा में तंग होता है.

दृष्टि जिन दस्तावेज़ों पर आधारित है, वे पचास साल या उससे भी ज़्यादा पुराने हैं। यह विमर्श संघ के उत्तर-गोलवलकर दस्तावेज़ों को पढ़ने के लिए भी तैयार नहीं है। चूँकि संघ की वैचारिक गतिकी को समझने से इनकार किया जा रहा है, इसलिए उसकी नयी राजनीति भी संज्ञान से बाहर चली गयी है।

कर्नल मुखर्जी अपने पाठ में मुसलमानों पर बहुविवाह का आरोप लगाने के बजाय इस मामले में उन्हें हिंदुओं के ही समकक्ष दिखाते हैं, और मुख्य रूप से उनका नज़रिया साम्प्रदायिक होने के बजाय सामाजिक-आर्थिक है। जो भी हो, कर्नल मुखर्जी ने *अ डाइंग रेस* लिख कर इन दोनों ही मक़सदों को हल किया। कुल मिला कर आबादी के घटने-बढ़ने का तर्क आगे चल कर हिंदू राष्ट्रवाद की स्थायी दुश्चिंता साबित हुआ।

संघ-पूर्व हिंदू विमर्श : वर्णाश्रम की पुनर्रचना और एक नये ब्राह्मण की खोज

मध्यमार्गी विमर्श का मुखर पक्ष हर तरह के हिंदू विमर्श को एक ही टोकरी में रख कर चलता है। उसकी निगाह में जो हिंदू दायरे में सोचता है, किसी हिंदू प्रस्थान-बिंदु से बहस करता है, हिंदू होने को किसी तरह की राष्ट्रीय संकल्पना से जोड़ता है, हिंदुओं की विविधता के बीच किसी भी तरह की एकता या समरूपता खोजता है, हिंदू सभ्यता-संस्कृति की प्राचीन भव्यता का हामी भरता है, और इस्लाम या ईसाई धर्म की या उनके किन्हीं पहलुओं की आलोचना करता है; तो वह या तो साम्प्रदायिक है या साम्प्रदायिक होने के अंदेशों की गिरफ़्त में है।[9] इस रवैये के तहत यह विमर्श हिंदू राजनीतिक चिंतन की एक रैखिक संरचना तैयार करके दिखाता है कि आज का हिंदुत्ववादी बहुसंख्यकवाद सीधे-सीधे उन्नीसवीं सदी की उस विमर्शी राजनीति का सीधा-सपाट परिणाम है जो 1875 में स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा *सत्यार्थ प्रकाश* के प्रकाशन और फिर विवेकानंद द्वारा 1893 में शिकागो की विश्व धर्म संसद में वैश्विक हिंदू धर्म की व्याख्या से शुरू हुई थी। ध्यान से देखने पर मध्यमार्गी विमर्श के मुखर हिस्से का यह रवैया उन्नीसवीं सदी के आख़िरी पच्चीस वर्षों और बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों के बारे में एक ऐसी दो-ध्रुवीय कल्पना पेश करता है जिसमें आर्य समाज और विवेकानंद के उद्बोधन से प्रभावित लोग कुछ-कुछ प्रोटेस्टेंट शैली में कैथॅलिकों सरीखे सनातनियों के पतनशील तंत्र से धर्म-सुधार के लिए संघर्ष करते दिखाई देते हैं।[10] लेकिन उस अवधि की वस्तुस्थिति इस सपाट कल्पना के मुक़ाबले कहीं जटिल थी। उन दिनों भारत का ग़ैर-मुस्लिम और ग़ैर-ईसाई संसार कई ध्रुवों में बँटा हुआ था। एक तरफ़ वेदों की केंद्रीयता स्थापित करने वाले आर्य समाजी थे। दूसरी तरफ़ पुराणिक संसार में रहने वाले सनातनी थे। तीसरी तरफ़ ख़ालसा पंथ जैसी संरचना थी जिस पर ढाँचे के लिहाज़ से इस्लामी प्रभाव लगता था पर जो मुग़लों से रक्तरंजित संघर्ष में उलझे रहने के कारण ऐतिहासिक रूप से हिंदुओं के ज़्यादा नज़दीक आ गयी थी। तीसरी तरफ़ बौद्ध, जैन, सत्य महिमा धर्म, कबीर पंथ और ऐसे ही न जाने कितने धर्म-सम्प्रदाय थे जिनकी अपनी-अपनी वैचारिक

[9] यह रवैया प्राच्यवादियों द्वारा संस्कृत साहित्य की मदद से बनाई गयी समरूप 'भव्य हिंदू परम्परा' से लेकर हिंदू धर्म को एक वैश्विक धर्म की तरह स्थापित करने वाले विवेकानंद तक, स्वामी दयानंद सरस्वती से लेकर कांग्रेस और उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में सक्रिय लाला लाजपत राय, मदन मोहन मालवीय और पुरुषोत्तम दास टण्डन जैसे हिंदू रुझान वाले नेताओं तक को एक ही श्रेणी में रखता है. यह प्रवृत्ति इन सभी हस्तियों को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का पूर्वज मान कर चलती है. इस तरह के सपाट 'साम्प्रदायिकता विरोधी विमर्श' से विपुल साहित्य का जन्म हुआ है. यह प्रवृत्ति हिंदुत्ववादियों के उस रवैये से मेल खाती है जो अल्पसंख्यक अधिकारों की ज़रा-सी भी चर्चा और हिंदू दायरे को आलोचनात्मक कसौटियों पर कसने की किसी भी कोशिश को हिंदू विरोधी क़रार देने से नहीं हिचकता.

[10] इस दौर के इतिहास-लेखन की इस प्रवृत्ति की सुव्यवस्थित आलोचना के लिए देखें, जॉन ज़ावोस (1999) : 57-81.

दावेदारियाँ थीं। हिंदू एकता की चिंता करने वाले विमर्श के दायरे में मुख्य रूप से आर्य समाजी, खालसा पंथ और सनातनी हिंदू कभी परस्पर टकराते और कभी एक साथ आते दिखाई पड़ते थे।

यहाँ मध्यमार्गी-विमर्श के मुखर पक्ष की एक और प्रवृत्ति को रेखांकित करने की आवश्यकता है। इसने हिंदू एकता के शुरुआती वैचारिक ऊहापोह की जो भी समीक्षा की है, वह वामपंथी और उदारतावादी दृष्टि से नया समाज बनाने के उद्देश्य से इस्तेमाल की जाने वाली विचार-श्रेणियों (आधुनिकता, सेकुलरवाद, राष्ट्रवाद और समतामूलकता) की कसौटी के आधार पर की है। ऐसी बात नहीं कि हिंदू विचारक इन श्रेणियों से प्रभावित न रहे हों— लेकिन वे इनका इस्तेमाल अपने मक़सदों के लिए कर रहे थे। वे हिंदू दर्शन और मूल्यों के साथ पश्चिमी दर्शन और मूल्यों को इस तरह जोड़ना चाहते थे कि उनकी शक्ल-सूरत और सार प्रत्यक्षत: हिंदू क़िस्म का ही रहे। इसी लक्ष्य के मुताबिक़ उनकी उस बौद्धिक कारीगरी की भाषा वह नहीं थी जो वामपंथियों और उदारतावादियों की होती है। दूसरी तरफ़ उनके आलोचकगण इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि किसी धार्मिक दायरे के भीतर नया समाज बनाया ही नहीं जा सकता, एवं धर्म और उससे जुड़ी सांस्कृतिक निर्मितियाँ किसी भी तरह की आधुनिकता की वाहक नहीं बन सकतीं। इन दो अलग-अलग प्रस्थान-बिंदुओं के कारण इस संदर्भ में आलोच्य और आलोचक के बीच एक बड़ा अंतर्विरोध खड़ा हो गया। आलोचक धर्म और उससे जुड़ी सांस्कृतिक निर्मितियों के दायरे से बाहर नया समाज बनाने की परियोजना का हामी बना रहा, जबकि आलोच्य की सामाजिक कल्पनाशीलता उस दायरे के भीतर परिवर्तन की सम्भावनाएँ टटोल रही थी। हम जिसकी आलोचना करना चाहते हैं, अगर उसकी शर्तों से बिल्कुल अपरिचित बने रहें या उन्हें तिरस्कार से विचार-योग्य ही न मानें, तो हमारे और आलोच्य के बीच एक अनुलंघनीय अंतराल बन जाता है। इस अंतराल में हम सुविधापूर्वक उसे ख़ारिज करके आत्ममुग्ध तो बने रह सकते हैं, पर उसकी सुचिंतित आलोचना की सम्भावना घट जाती है। मुखर पक्ष के विद्वानों द्वारा शुरुआती हिंदू विचारकों को समझने में हुई त्रुटियों का बड़ा कारण यह भी रहा है।

केशवराव बलिराम हेडगेवार (1889-1940) द्वारा 1925 में संघ की स्थापना के पहले हिंदू एकता की चिंता करने वाले विमर्श को मैंने विन्यास की दृष्टि से यहाँ दो भागों में बाँटा है। पहले हिस्से में वह अवधि आती है जो 1875 में आर्य समाज की स्थापना और 1893 में विवेकानंद के उद्‌बोधन से लेकर बीसवीं सदी के दूसरे दशक के मध्य तक फैली हुई है। इस दौर में स्वामी दयानंद (1824-1883), स्वामी विवेकानंद (1863-1902), कर्नल उपेंद्र नाथ मुखर्जी (1868-1919), स्वामी श्रद्धानंद (1856-1926) और भाई लालचंद (1852-1912) जैसे हिंदूवादी चिंतक और संगठनकर्ता सक्रिय दिखाई पड़ते हैं। दूसरे हिस्से में 1915 से लेकर 1925 तक की वह अवधि आती है जिसमें बालकृष्ण शिवराम मुंजे (1872-1948) और विनायक दामोदर सावरकर (1883-1966) की हस्तियाँ हिंदू एकता के विचार का अधिक सुव्यवस्थित सूत्रीकरण करने का प्रयास करते दिखती हैं। इन दोनों अवधियों में आर्य समाज और हिंदू महासभा की वैचारिक और सांगठनिक अन्योन्यक्रिया होती है। एकता भी होती है, और संघर्ष भी होता है। मैंने इस दौर के घटनाक्रम का कोई ब्योरा यहाँ न दे कर केवल उनके विचारों के केंद्रीय पहलुओं को सामने रखने की कोशिश की है, ताकि यह समझा जा सके कि संघ की स्थापना करते समय डॉ. हेडगेवार के पास किस तरह की वैचारिक सामग्री थी। इससे यह भी पता लग सकता है कि इस विमर्शी विरासत के किन पक्षों का उन्होंने इस्तेमाल किया और किन पक्षों को अपनाने से परहेज़ किया।

संघपूर्व विमर्श-1

आर्यसमाजी रैडिकलिज़्म : आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद का एजेंडा वेदों की केंद्रीयता स्थापित करने के ज़रिये हिंदुओं को एकजुट करने का था। उनकी मान्यता थी कि अगर सभी हिंदू वेद को मानने लग जाएँ तो मूर्तिपूजा, जातिप्रथा और अंधविश्वासों से उन्हें मुक्ति मिल सकती है। इसके लिए वे न केवल पुराणपंथी सनातनियों पर प्रहार करते थे, बल्कि उनके आक्रमण के दायरे में ख़ालसा पंथ जैसे धर्म भी आ जाते थे। आर्य समाज की इस प्रवृत्ति का अंदाज़ा उसके प्रमुख ग्रंथ

सत्यार्थ प्रकाश में गुरु नानक के बारे में लिखी इन बातों से लगाया जा सकता है :

> नानकजी का आशय तो अच्छा था, परंतु विद्या कुछ भी नहीं थी। हाँ, भाषा उस देश की जो कि ग्रामों की है जानते थे। वेदादि शास्त्र और संस्कृत कुछ भी नहीं जानते थे। जो जानते होते तो 'निर्भय' शब्द को 'निर्भो' न लिखते और इसका दृष्टांत उनका बनाया 'संस्कृती स्त्रोत' है। चाहते थे कि मैं संस्कृत में भी 'पग अड़ाऊँ', परंतु बिना पढ़े संस्कृत कैसे आ सकता है? ... मूर्तिपूजा तो नहीं करते, परंतु उससे जुड़े विशेष ग्रंथ की पूजा करते हैं, क्या यह मूर्ति पूजा नहीं है? किसी जड़ पदार्थ के सामने सिर झुकाना व उसकी पूजा करना सब मूर्तिपूजा है। जैसे मूर्तिवालों ने अपनी दूकान जमा कर जीविका ठाड़ी है, वैसे इन लोगों ने भी कर ली है। जैसे पुजारी लोग मूर्ति का दर्शन कराते, भेंट चढ़वाते हैं, वैसे नानकपंथी लोग ग्रंथ की पूजा करते-कराते, भेंट भी चढ़वाते हैं। अर्थात् मूर्तिपूजा वाले जितना वेद का मान्य करते हैं, उतना भी ये लोग ग्रंथसाहबवाले नहीं करते।[11]

'वेद एक बंद किताब की तरह थे ... दयानंद ने हिंदुओं के सभी वर्गों और जातियों द्वारा वेदों को पढ़ने और उन पर टीका-टिप्पणी करने का रास्ता खोला। लाजपत राय के मुताबिक़ ऐसा करके भारत में धार्मिक, बौद्धिक और सामाजिक आज़ादी के हित में दयानंद ने जो योगदान दिया उसके आधार पर उन्हें हिंदू भारत का रक्षक क़रार दिया जाना चाहिए।'

यही नहीं, *सत्यार्थ प्रकाश* में दयानंद ने नानक को 'दम्भी' क़रार देने के साथ-साथ संस्कृत और वेदों की नाजानकारी रखने वालों को 'महामूर्ख' क़रार दिया, भले ही वे किसी भी सम्प्रदाय या धर्म के प्रमुख क्यों न हों। दयानंद ने सनातनियों के ख़िलाफ़ ही मोर्चा नहीं खोला, उन्होंने इस्लाम और ईसाईयत समेत किसी को नहीं छोड़ा। अपने इस ग्रंथ के ग्यारहवें और बारहवें उल्लास (अध्याय) में उन्होंने वैष्णव, शैव, शाक्त जैसे सम्प्रदायों के साथ-साथ कबीरपंथ, दादूपंथ, नास्तिकवाद, स्वामीनारायण सम्प्रदाय, बौद्धमत, जैनमत समेत लगभग सभी प्रचलित छोटे-बड़े मतों की शिक्षाओं को चुनौती दी, उन्हें वेदों और तर्क-वितर्क की कसौटी पर कस कर ख़ारिज किया। ज़ाहिर है कि दयानंद की विमर्शी रणनीति मुख्यत: तल्ख़ी से भरी हुई और विवादात्मक (पॉलिमिकल या व्यास शैली) थी। उन्होंने वेदों के दायरे से बाहर प्रत्येक धर्म-मत की खिल्ली उड़ाई, खण्डन-मण्डन किया।

दयानंद की इस प्रवृत्ति की आलोचना गाँधी ने भी की है। दयानंद की 'महानता' और 'असंदिग्ध साहस' को स्वीकार करते हुए गाँधी ने कहा है कि 'उन्होंने अनजाने में जैन, इस्लाम, ईसाईयत और ख़ुद हिंदू धर्म को ग़लत तरीक़े से पेश किया। ... उन्होंने दुनिया के सबसे उदार और सहिष्णु धर्म को संकीर्ण बनाने की कोशिश की।'[12] दयानंद पर हिंदू धर्म को अहले-क़िताब बनाने, वेदों की केंद्रीयता के ज़रिये वर्णाश्रम और ब्राह्मणों का महत्त्व बढ़ाने, और आर्य समाज के मंदिर को हिंदुओं के चर्च की तरह पेश करने का आरोप भी है। कमोबेश सही होते हुए भी ये आलोचनाएँ दयानंद के विमर्श द्वारा हिंदू समाज के एक महत्त्वपूर्ण हिस्से को दिये गये उस आश्वासन का महत्त्व ठीक से नहीं समझ पाईं जिसके कारण न केवल उनके आंदोलन ने तेज़ी से सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ीं, बल्कि एक ऐसी विमर्शी रणनीति को भी जन्म दिया जिसके परे जा कर देखना हर तरह के हिंदू राष्ट्रवादियों के लिए

[11] देखें, स्वामी दयानंद (1875/2005) : 430-433.

[12] देखें, गाँधी का *यंग इंडिया* में 9 मई, 1924 को छपा लेख.

बहुत मुश्किल हो गया। उत्तर-दयानंद अवधि के हिंदू राष्ट्रवादियों के लिए उनके द्वारा प्रवर्तित खण्डन-मण्डन और टकराव को अस्वीकार करना आसान था, पर वे दयानंद की केंद्रीय विमर्शी रणनीति का अनुपालन करने के लिए मजबूर थे।

पंजाब के प्रमुख आर्यसमाजी और कांग्रेस के गरमदली नेता लाला लाजपत राय ने 1914 में दयानंद की इस केंद्रीय विशेषता को रेखांकित करते हुए लिखा था कि उन्नीसवीं सदी के दूसरे अर्धांश में जब भारत के लिए 'वेद एक बंद किताब की तरह थे और हिंदुओं और ग़ैर-हिंदुओं समेत सभी समुदायों के बीच खुली बहस के दौरान उनका हवाला देना तो दूर उन्हें कोई पढ़ तक नहीं सकता था— तब दयानंद ने हिंदुओं के सभी वर्गों और जातियों द्वारा वेदों को पढ़ने और उन पर टीका-टिप्पणी करने का रास्ता खोला। लाजपत राय के मुताबिक़ ऐसा करके भारत में धार्मिक, बौद्धिक और सामाजिक आज़ादी के हित में दयानंद ने जो योगदान दिया उसके आधार पर उन्हें हिंदू भारत का रक्षक क़रार दिया जाना चाहिए।'[13]

इस उद्धरण में लाजपत राय दयानंद को श्रेय देते हुए दिखते हैं कि उन्होंने हिंदू धर्म को वेद-आधारित या पाठ-आधारित बना कर एक उपकार किया। दरअसल, दयानंद का यह उद्यम 'हिंदू' समझी जाने वाली संरचनाओं को 'लिव्ड रिलीजन' की श्रेणी से निकाल कर वेदों, स्मृतियों और संस्कृत के अन्य ग्रंथों के मुताबिक़ परिभाषित करने वाली अठारहवीं सदी से ही जारी प्राच्यवादी परियोजना के बिना सम्भव नहीं था। दयानंद की ख़ास बात यह थी कि उन्होंने स्मृतियों वग़ैरह को ख़ारिज करते हुए इसे हिंदू पहचान को वेदों तक सीमित किया, और लोकप्रिय सामाजिक-धार्मिक आंदोलन का रूप देते हुए शूद्रों और स्त्रियों के लिए भी वेदाध्ययन का प्रावधान कर दिखाया। लेकिन उनका रैडिकलिज़म यहीं तक नहीं रुका। उन्होंने जातिप्रथा को ख़ारिज करके वर्ण-व्यवस्था के जन्म आधारित ढाँचे को योग्यता आधारित ढाँचे में बदल कर उसका नवीकरण करने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया में एक प्रस्ताव निहित था : वर्ण व्यवस्था की नवीकृत प्रणाली के शीर्ष पर पुराने ब्राह्मण की जगह एक नये ब्राह्मण को स्थापित करना। पुराना ब्राह्मण जन्मना था, और दयानंद की दृष्टि में सभी तरह के अंधविश्वासों और हिंदू धर्म के पतन का ज़िम्मेदार था। उसके विपरीत दयानंद जिस नये ब्राह्मण की खोज और रचना करना चाहते थे वह योग्यता आधारित था। चूँकि दयानंद का हिंदू धर्म पाठ-आधारित था, इसलिए उनके ब्राह्मण के पास पाठ-आधारित योग्यता होनी ज़रूरी थी। इस तरह के ब्राह्मण पर जन्मना होने की शर्त लागू नहीं हो सकती थी। आर्य समाज की थियरी के हिसाब से जो पाठ में पारंगत था, वह ब्राह्मण हो सकता था।[14]

सबसे पहले तो उन्होंने विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण के पैदा होने के प्रकरण से अपनी असहमति यह कह कर दर्ज की कि 'जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अंग ही नहीं हैं, मुख आदि से उत्पन्न होना असम्भव है।' फिर उन्होंने वर्णों के स्थिर होने का खण्डन करके उनके तरल होने की दलील दी, 'जो शूद्र कुल में उत्पन्न हो के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के सदृश गुण, कर्म स्वभाव वाला हो, तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाए। वैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के कुल में उत्पन्न हुए शूद्र के सदृश हों, तो शूद्र हो जाएँ। वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य के कुल में उत्पन्न हो के ब्राह्मण व शूद्र के समान होने से, ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाते हैं। अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण सदृश जो-जो पुरुष व स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।' वर्णों को आचरण, गुण और कर्म-आधारित बनाने के लिए उन्होंने संस्तुति की, 'जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण कर्म हों, उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे संतान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे, तो शूद्र हो जाएँगे और संतान भी डरते रहेंगे कि जो हम उत्तम चाल-चलन और विद्यायुक्त

---

[13] लाजपत राय (1967/1992) : 54-55.

[14] नये और आदर्श ब्राह्मण की खोज का यह सिलसिला दयानंद या अन्य हिंदू राष्ट्रवादियों से ही शुरू नहीं होता. दरअसल, यह बुद्ध के विचार और अश्वघोष जैसे रैडिकल बौद्ध दार्शनिकों तक में देखा जा सकता है. लगभग हर युग में यह विचार दिखाई पड़ता है कि जो ब्राह्मण मौजूद हैं वे आदर्शों पर खरे नहीं उतर रहे हैं इसलिए ज़रूरत नये ब्राह्मण की है.

न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा। और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।'[15] शूद्र को उन्नति करके ब्राह्मण की स्थिति में लाया जा सकता है— दयानंद के इस प्रस्ताव की प्रतिध्वनियाँ आगे चल कर स्वामी विवेकानंद (1863-1902) के उस विख्यात प्रस्ताव में सुनाई पड़ सकती हैं जिसमें वे कहते हैं कि एक सिरे पर ब्राह्मण है और दूसरे पर चाण्डाल। लेकिन करने लायक़ काम यह है कि चाण्डाल को ब्राह्मण की स्थिति में लाया जाए, और यह काम इस तरह धीरे-धीरे किया जाए कि हिंदुओं के बीच टकराव की स्थिति पैदा न हो।

वर्णों की ऊर्ध्वगामिता का सिद्धांत दे कर दयानंद ने स्पष्ट किया कि उनके आदर्श वर्णाश्रम के शीर्ष पर नया और जन्मना के बजाय योग्यता आधारित ब्राह्मण ही होगा। वही धर्म के सत्य का वाहक होगा, और वह विद्या प्राप्त करके किसी अन्य वर्ण से उन्नति करके ब्राह्मण बनने वाला भी हो सकता है। उनका यह संदेश पंजाब के हिंदू अरोड़ाओं, खत्रियों और अन्य समृद्ध लेकिन ग़ैर-ब्राह्मण बिरादरियों द्वारा हाथोंहाथ लिया गया। ये बिरादरियाँ न केवल शिक्षित थीं, बल्कि अंग्रेज़ी शिक्षित भी थीं। नतीजतन, इन आर्थिक रूप से सशक्त बिरादरियों में आर्य समाज तेज़ी से फैला। दयानंद के इन्हीं विचारों को उनके अनुयायियों ने अपने-अपने तरीक़े से आगे बढ़ाया। बाद के आर्यसमाजियों ने क्रमश: टकराव वाला रवैया छोड़ा और आर्य-सनातनी एकता की ज़मीन तैयार की। इनमें भाई लालचंद और लाला मुंशी राम (संन्यास लेने के बाद उनका नाम स्वामी श्रद्धानंद हो गया) प्रमुख थे। दयानंद की विरासत की जिस प्रकार इन दोनों ने व्याख्या की— वह आगे चल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लिए बहुत मुफ़ीद साबित हुआ।

सिन्हा ने महासभा और मुंजे के साथ कई मसलों पर संघ के मतभेदों की चर्चा की है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण मतभेद है मुंजे और सावरकर द्वारा हिंदुओं के फ़ौजीकरण की कोशिशों में संघ द्वारा शामिल होने से इनकार करते हुए स्पष्ट करना कि संघ हिंदू महासभा की सैनिक शाखा नहीं है।

1909 में *पंजाबी* में लिखते हुए लालचंद ने विश्लेषण किया : 'ज़ोर इस पर नहीं है कि पैरों को सिर की जगह दे दी जाए, लेकिन पवित्र 'जीवंत' देह के अनिवार्य अंगों के रूप में पैरों के महत्त्व को बाक़ायदा मान्यता मिलनी चाहिए। उनकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, उन्हें पोषण, शिक्षा और ज्ञान की रोशनी में समुचित हिस्सा प्राप्त होना चाहिए ताकि वे समुदाय और राजनीतिक व्यवस्था के सर्वाधिक हित का साधन करने की अपनी भूमिका निभा सकें।'[16] शूद्रों को ब्राह्मणों के समान अधिकार देने का यह आग्रह करने के अलावा लालचंद ने अपनी पुस्तिका *सेल्फ़ एब्नेगेशन इन पॉलिटिक्स* में बीसवीं सदी के पहले दशक में कांग्रेस के समांतर एक समग्र हिंदू राजनीति का ढाँचा भी पेश किया जिसके तहत कांग्रेस कमेटियों की जगह हिंदू सभा की कमेटियों को लेना था, कांग्रेस के प्रेस की जगह हिंदू प्रेस आना था, हिंदू डिफ़ेंस फ़ंड बनाया जाना था।[17]

स्वामी श्रद्धानंद[18] की विशेषता यह थी कि उन्होंने आम तौर से हिंदू महासभा के दायरे में और ख़ास तौर से आर्य समाज के दायरे में ब्राह्मण-शूद्र द्विभाजन की सीमाओं से परे जाते हुए छुआछूत के

[15] दयानंद, वही : 97, 101.
[16] आर.बी. लालचंद (1909). इस उद्धरण का प्रयोग ज़ावोस (1999), वही.
[17] देखें, आर.बी. लालचंद (1938), राकेश सिन्हा (सं.) (2017) : 211-292.
[18] स्वामी श्रद्धानंद के जीवन पर एक विश्लेषणात्मक निगाह के लिए देखें, मोहिंदर सिंह (2018), अप्रकाशित.

प्रश्न को केंद्रस्थ किया। हिंदू महासभा के 1923 के अधिवेशन में उन्होंने तीन प्रस्ताव रखे जिनमें हिंदू धर्म की सम्पूर्ण पुनर्रचना की सम्भावना थी। पहला प्रस्ताव अछूतों को कुओं का इस्तेमाल करने की इजाज़त देने और उन्हें स्कूलों में दाख़िला देने के बाद शुद्धि के माध्यम से व्यापक हिंदू समाज का अंग बनाने का था। दूसरा प्रस्ताव मलकाना राजपूतों के बारे में था। धर्मांतरण करके मुसलमान बन गये हज़ारों मलकाना राजपूतों को शुद्धि की मुहिम के ज़रिये फिर से हिंदू बनाने की मुहिम श्रद्धानंद के नेतृत्व में ही चलाई गयी थी। तीसरा प्रस्ताव यह था कि शुद्धि के माध्यम से जिनकी वापसी हो रही है, उन्हें पूरे हिंदू समाज का सदस्य माना जाए। श्रद्धानंद की मान्यता थी कि दयानंद के विचारों के अनुसार चाहे वर्णाश्रम के बाहर खड़ा अछूत हो, या धर्मांतरण करके हिंदू दायरे से बाहर गया कोई व्यक्ति या समुदाय हो, उसकी वापसी किसी जाति में नहीं होनी चाहिए। इसके पीछे सिद्धांत योग्यता आधारित वर्ण का ही था। सैद्धांतिक रूप से वर्णक्रम में वापस आया अछूत भी यज्ञोपवीत धारण कर सकता था, बशर्ते उसमें ब्राह्मण बनने की योग्यता हो। हिंदू महासभा ने ये प्रस्ताव नहीं माने, और शुद्धि के बाद वापसी करने वालों को उनकी पुरानी जाति में ही लेने की बात कही। श्रद्धानंद यह समझौता करने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे। उन्होंने हिंदू महासभा से इस्तीफ़ा दे दिया।[19]

हिंदुओं की घटती आबादी और हिंदू एकता : श्रद्धानंद ने जिस शुद्धि को हिंदू समाज में रैडिकल सुधारों का उपकरण बनाने का प्रयास किया था, उसकी प्रेरणा के दो मुक़ाम थे। हम देख चुके हैं कि स्वाभाविक रूप से इनमें पहला मुक़ाम था दयानंद के विचार और दूसरा मुक़ाम था हिंदुओं की घटती आबादी के प्रति चिंता। इस दूसरे मुक़ाम की तरफ़ उन्हें आकर्षित करने का श्रेय कर्नल उपेंद्र नाथ मुखर्जी के साथ 1912 में हुई निजी भेंट को जाता है। तीन साल पहले ही मुखर्जी अपने ससुर सुरेंद्र नाथ बनर्जी द्वारा सम्पादित पत्र *बंगाली* में लेखों की एक शृंखला प्रकाशित कर चुके थे जिन्हें बाद में *हिंदूज़ : अ डाइंग रेस*[20] शीर्षक से एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया। इस पुस्तिका में उन्होंने 1901 की जनगणना के आँकड़ों की मदद से दिखाया था कि भारत की आबादी में हिंदुओं का प्रतिशत घट रहा है और ईसाइयों और मुसलमानों का बढ़ रहा है। श्रद्धानंद से मुलाक़ात में उन्होंने दावा किया कि अगले 420 वर्ष में हिंदू पूरी तरह से ख़त्म हो जाएँगे। श्रद्धानंद उनके तर्कों से बहुत प्रभावित हुए। धर्मांतरण के ख़िलाफ़ शुद्धि की आर्यसमाजी मुहिम चलाने के पीछे उनका एक तर्क यह भी था। 1926 में श्रद्धानंद ने *हिंदू संगठन : सेवियर ऑफ़ अ डाइंग रेस*[21] शीर्षक से एक पुस्तिका भी लिखी जो अपने ज़माने में बहुत प्रभावशाली साबित हुई।

पश्चिम के देशों में जनगणना करते समय धार्मिक आधार पर आबादी की गिनती न करके आर्थिक पहलुओं पर ज़ोर देने की परम्परा रही है। लेकिन ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने इस परम्परा का उल्लंघन करते हुए भारतवासियों को धार्मिक आधार पर गिनने का फ़ैसला किया। इसके पीछे भारतवासियों के बीच धार्मिक आधार पर फूट डालने और अपना साम्राज्य मज़बूत करने की कुख्यात ब्रिटिश रणनीति भी थी।[22] नतीजा वही निकला जो उपनिवेशवादी निकालना चाहते थे। धार्मिक समुदायों की आबादी घटने-बढ़ने के आँकड़ों को केंद्र बना कर तरह-तरह की दुश्चिंताओं का खेल शुरू हो गया। इन दुश्चिंताओं को दो तरह से पढ़ा जा सकता है। एक तरीक़ा है मुसलमानों और ईसाइयों की बढ़ती आबादी का डर दिखा कर इन दुश्चिंताओं को हिंदू साम्प्रदायिक गोलबंदी के लिए इस्तेमाल करने की प्रक्रियाओं पर ज़ोर देना,[23] और दूसरा तरीक़ा है हिंदुओं की घटती आबादी के गढ़े गये

[19] इस प्रकरण के विवरण के लिए देखें, जावोस (1999), वही.

[20] देखें, कर्नल उपेंद्र नाथ मुखर्जी (1912), राकेश सिन्हा (सं.) (2017) : 35-144.

[21] देखें, स्वामी श्रद्धानंद (1926), राकेश सिन्हा (सं.) (2017) में : 115-201.

[22] देखें, आर.बी. भगत (2001) : 4352-4356.

[23] इस प्रकार के अर्थग्रहण के एक उदाहरण के लिए देखें, चारु गुप्ता (2004) : 4302-4304. मुखर्जी की पुस्तिका को बंगाल में साम्प्रदायिक चेतना के शुरुआती अहलकार के रूप में देखने के विस्तृत तर्क के लिए देखें, प्रदीप कुमार दत्त (1993) : 1305-1319.

आँकड़ागत रूपक को हिंदू समाज की भीतरी दुर्व्यवस्था रेखांकित करने के लिए इस्तेमाल करना। इस दूसरे पाठ का दावा है कि मुखर्जी ने 'डाइंग रेस' का प्रयोग एक रूपक के तौर पर किया था ताकि हिंदुओं के बीच जातिवाद, शूद्रों की बुरी हालत, छुआछूत और विधवाओं के कष्टों को उभारा जा सके। यह पाठ दावा करता है कि मुखर्जी अपने पाठ में मुसलमानों पर बहुविवाह का आरोप लगाने के बजाय इस मामले में उन्हें हिंदुओं के ही समकक्ष दिखाते हैं, और मुख्य रूप से उनका नज़रिया साम्प्रदायिक होने के बजाय सामाजिक-आर्थिक है।[24] जो भी हो, कर्नल मुखर्जी ने *अ डाइंग रेस* लिख कर इन दोनों ही मक़सदों को हल किया। कुल मिला कर आबादी के घटने-बढ़ने का तर्क आगे चल कर हिंदू राष्ट्रवाद की स्थायी दुश्चिंता साबित हुआ।

श्रद्धानंद की मान्यता थी कि दयानंद के विचारों के अनुसार चाहे वर्णाश्रम के बाहर खड़ा अछूत हो, या धर्मांतरण करके हिंदू दायरे से बाहर गया कोई व्यक्ति या समुदाय हो, उसकी वापसी किसी जाति में नहीं होनी चाहिए। इसके पीछे सिद्धांत योग्यता आधारित वर्ण का ही था। सैद्धांतिक रूप से वर्णक्रम में वापस आया अछूत भी यज्ञोपवीत धारण कर सकता था, बशर्ते उसमें ब्राह्मण बनने की योग्यता हो।

विवेकानंद और शूद्रत्व की हिंदू-राजनीति : उन्नीसवीं सदी में हिंदू धर्म के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पर निर्णायक प्रभाव डालने वाले स्वामी विवेकानंद (1863-1902) के विचारों की चर्चा किये बिना संघ-पूर्व हिंदू चिंतन का कोई आख्यान सम्पूर्ण नहीं हो सकता। दयानंद और उनके अनुयायी जिस समय वेदों की केंद्रीयता स्थापित करने के ज़रिये ग़ैर-ब्राह्मण के ब्राह्मण बनने का सूत्र तलाश रहे थे, उसी दौरान उनके समांतर विवेकानंद ने शूद्रत्व की हिंदू-राजनीति का अनूठा सूत्रीकरण किया।

भारतीय और पश्चिमी दर्शन में पारंगत, चुम्बकीय व्यक्तित्व के धनी और अत्यंत प्रभावशाली वक्ता विवेकानंद ने युरोप और अमेरिका को वेदांत और योग से परिचित कराया। उन्होंने दयानंद की तरह तत्कालीन हिंदू सनातनी परम्परा को संस्थागत चुनौती नहीं दी यानी उन्होंने अपना अलग सम्प्रदाय नहीं बनाया, लेकिन उनके विमर्श और गतिविधियों का हिंदू मानस पर स्थायी असर पड़ा। रामकृष्ण परमहंस के उत्तराधिकारी के रूप में रामकृष्ण मिशन की स्थापना करने वाले विवेकानंद ने राजनीति को अपने विचारों का वाहक नहीं बनाया, पर उनके संदेश ने बीसवीं सदी में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में लगे हुए राजनेताओं और समाज सुधारकों को गहराई से प्रभावित किया। गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस, अरविंद घोष, सर्वपल्ली राधाकृष्णन और रवींद्रनाथ ठाकुर तक ने विवेकानंद को भारत के प्रमुखतम राष्ट्र-निर्माताओं में से एक की संज्ञा दी है। उन्होंने हिंदू धर्म और दर्शन को विश्व-धर्म के रूप में युरोप और अमेरिका में प्रचारित-प्रसारित करने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। 1893 में शिकागो में आयोजित की गयी विश्व धर्म संसद में विवेकानंद द्वारा दिया गया भाषण किंवदंती का रूप ले चुका है। नब्बे के दशक के बाद हिंदुत्ववादी राजनीति पर पिछड़ी जातियों (जो कर्मकाण्डीय दृष्टि से शूद्र वर्ण की मानी जाती हैं) के हावी होते जाने की जड़ अगर खोजी जानी हो, तो वह विवेकानंद के विमर्श में खोजी जानी चाहिए।

दरअसल, विवेकानंद भारतीय राष्ट्रवाद के आदि-सिद्धांतकारों में एक कहे जा सकते हैं। उन्होंने उस ज़माने में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया जनसाधारण के संदर्भ में संकल्पित की जब वह केवल अभिजन विमर्श में ही सीमित थी। आध्यात्मिक प्रगति के लिए भौतिक समृद्धि की शर्त लगा कर विवेकानंद ने

[24] दूसरे क़िस्म के अर्थग्रहण के लिए देखें, राकेश सिन्हा (2017), वही : इंट्रोडक्शन : 9-34.

धार्मिक ज्ञान के दरवाज़े समाज के सभी लोगों के लिए खोलने की वकालत की। उन्होंने समाज-सुधारों और धर्म-सुधारों के प्रश्न को सामाजिक न्याय का परिप्रेक्ष्य प्रदान करके समाज और राजनीति के स्तर पर उदारतावादी रुझानों की शुरुआत की। इस लिहाज़ से विवेकानंद को भारतीय उदारतावाद की एक विशिष्ट धारा के उद्‌गम के रूप में भी देखा जाता है। उनके विचारों के कुछ पहलुओं का हिंदुत्ववादी विचारधारा के पैरोकारों पर असर पड़ना लाज़िमी था। संघ के दूसरे सरसंघचालक गुरु गोलवलकर दयानंद से नहीं बल्कि विवेकानंद से ही प्रभावित थे, इतने कि एकबारगी उन्होंने रामकृष्ण मिशन के काम में ही अपना सारा जीवन गुज़ारने का फ़ैसला कर लिया था। गोलवलकर के ज़माने में ही संघ ने पिछड़ी जातियों को द्विज जातियों से जोड़ने के राजनीतिक प्रोजेक्ट पर काम करना शुरू किया विवेकानंद ने जिस वेदांत को राष्ट्रीय जीर्णोद्धार का आधार बनाया, वह किन्हीं स्वीकृत अर्थों में धार्मिक नहीं है। वह हिंदुओं के बजाय भारतवासियों को सम्बोधित है। विवेकानंद की अभिव्यक्ति में एक सचेत हिंदू रुझान है, पर केवल एक सीमा तक ही। वे एक हिंदू तत्त्वज्ञानी और दार्शनिक की भाषा अपनाने वाले वक्ता की तरह सामने आते हैं, पर हिंदू दायरे से बाहर की आस्थाओं को जोड़ते जाने का सरोकार इस उद्यम के साथ-साथ चलता रहता है। उनकी मान्यता थी कि वेदांत में सभी धर्मों की एकात्मकता व्यक्त होती है। उन्नीसवीं सदी में ब्रह्म समाज आंदोलन द्वारा जिस सामासिकता की वकालत की जाती थी, उसका आधार धार्मिक सहिष्णुता था। विवेकानंद धर्मों की जिस एकात्मकता का प्रतिपादन कर रहे थे, वह सहिष्णुता की अवधारणा से सहमत होने के बजाय सभी धर्मों के एक ही परमतत्त्व के सागर में विलीन होने की बात कहती थी। लेकिन इस विचार का मतलब यह नहीं था कि विवेकानंद बाक़ी धर्मों के पृथक् अस्तित्व के ख़िलाफ़ थे। उनका कथन था : 'हम सभी धर्मों को महज़ सहने के पक्ष में नहीं हैं, हम उन सभी को सच्चा मानते हैं।' इसी कारण से विवेकानंद ने किसी अलग सम्प्रदाय की स्थापना का विरोध किया और एक धर्म को दूसरे से श्रेष्ठ बताने वाले प्रोपेगंडे को पूरी तरह से ख़ारिज कर दिया। विवेकानंद द्वारा दी गयी अद्वैत की यह परिभाषा आगे चल कर बहुत से स्वतंत्रता सेनानियों के लिए स्वराज के उपनिवेशवाद विरोधी आग्रह का तात्त्विक आधार बनी।

विवेकानंद के पास राष्ट्रनिर्माण की एक कार्य-योजना भी थी। वे पूर्व की मूल्य प्रणाली और पश्चिम की वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकीय उपलब्धियों का संयोग चाहते थे। बंगाली भद्रलोक के सुधार-कार्यों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए उनका कहना था कि कुछ लोगों को स्नातक बनाने से राष्ट्र की भित्ति नहीं खड़ी होगी। उसके लिए साधारण-जन को शिक्षित करना होगा। उन्होंने साफ़ तौर से कहा कि वे जिस अध्यात्म की वकालत कर रहे हैं वह भूखे पेटों के बीच और निरक्षरता के अंधकार में नहीं पनप सकता। उसके लिए पश्चिम सरीखी शक्तिशाली भौतिक सभ्यता विकसित करना आवश्यक है। राष्ट्रवाद और वेदांत का जो संयोग उन्होंने निकाला था उसमें एक भिन्न तरह के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की सम्भावना थी। संघ परिवार के आग्रह के विपरीत विवेकानंद हिंदू परम्परा के ब्राह्मण मर्म को उपेक्षा के साथ देखते थे। वेदांती होने के बावूजद वे ग़ैर-ब्राह्मणों को वेद-ज्ञान से वंचित रखने के लिए शंकराचार्य तक की आलोचना करते थे। कायस्थ घर में पैदा होने के कारण उनके संन्यासी और शास्त्रज्ञ होने के अधिकार पर परम्परानिष्ठ बंगालियों द्वारा आपत्ति की गयी थी। यह भी कहा गया था कि विदेश यात्रा करके भी उन्होंने समुद्र पार न करने की मर्यादा का उल्लंघन किया है। धार्मिक अनुदारपंथियों को यह भी शक था कि विदेश में विवेकानंद ने ख़ान-पान की शुचिता का ध्यान भी नहीं रखा होगा। विवेकानंद ने इस आलोचना का जवाब बेहिचक दिया : 'मैं एक परम्परानिष्ठ पुराणपंथी हिंदू था ही कब? मैंने धर्मशास्त्रों को ध्यान से पढ़ा है और मैं जानता हूँ कि अध्यात्म और धर्म शूद्रों के लिए है ही नहीं। अगर कोई शूद्र विदेश यात्रा के दौरान खान-पान की बंदिशों का पालन करता है तो भी उसे कोई श्रेय नहीं मिलने वाला, ऐसी सारी कोशिशें बेकार हैं। मैं शूद्र हूँ और म्लेच्छ हूँ। फिर मुझे इन सब बातों की चिंता क्यों होने लगी?' भविष्य के बारे में विवेकानंद की दृष्टि साफ़ देख रही थी कि आगे चल कर इस राष्ट्र पर कमज़ोर जातियों का प्रभुत्व होगा। यह भविष्यवाणी समाजवादी चिंतक किशन पटनायक की कृति *भारत शूद्रों का होगा!* में ध्वनित होते दिख सकती है।

1993 में विवेकानंद के शिकागो भाषण की शताब्दी मनाई गयी जिसमें विश्व हिंदू परिषद ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का हिंदुत्ववादी राजनीति के लिए विनियोग करने की चेष्टा की। संघ परिवार के प्रचार साहित्य में विवेकानंद के चित्रों की निरंतर मौजूदगी और कन्याकुमारी में विवेकानंद शिला स्मारक के निर्माण के साथ हिंदुत्ववादियों का जुड़ाव भी उन्नीसवीं सदी के इस महान संत की कुछ ऐसी छवि पेश करता है जैसे कि वे आज के हिंदू राष्ट्रवादियों के सिद्धांतकार रहे हों। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। चाहे शिकागो में दिया गया भाषण हो, या युरोप की यात्रा के दौरान दिये गये प्रवचन हों, विवेकानंद की वक्तृताओं में आज की हिंदुत्ववादी राजनीति की लेशमात्र आहट भी नहीं सुनाई देती। वे मुख्यत: वेदांती तत्त्वज्ञान की चर्चा करते नज़र आते हैं। वे अनासक्त कर्म, समर्पण के रास्ते पर ले जाने वाली भक्ति, ज्ञान और पतंजलि के योगसूत्र से ली गयी राज-योग की तकनीक पर बोलते हैं, न कि धर्म के किसी प्रचलित कर्मकाण्डीय पहलू पर।

विवेकानंद ... पूर्व की मूल्य प्रणाली और पश्चिम की वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकीय उपलब्धियों का संयोग चाहते थे। ... उन्होंने साफ़ तौर से कहा कि वे जिस अध्यात्म की वकालत कर रहे हैं वह भूखे पेटों के बीच और निरक्षरता के अंधकार में नहीं पनप सकता। उसके लिए पश्चिम सरीखी शक्तिशाली भौतिक सभ्यता विकसित करना आवश्यक है। राष्ट्रवाद और वेदांत का जो संयोग उन्होंने निकाला था उसमें एक भिन्न तरह के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की सम्भावना थी।

पश्चिम में विवेकानंद का एजेंडा द्विपक्षीय था। उन्होंने ईसाई मिशनरियों द्वारा किये जाने वाले भारत-दुर्दशा के वर्णन का खण्डन किया और भारत की ग़रीबी का लाभ उठा कर धर्म परिवर्तन की मुहिम चलाने वाले इंजीली उत्साह की जम कर भर्त्सना की। दूसरी तरफ़ वे दिखाना चाहते थे कि ईसाईयत पर हिंदू और बौद्ध दर्शन का प्रभाव किस तरह पड़ा है। विवेकानंद ने आधुनिक युरोपीय सभ्यता में इस्लाम के योगदान की भव्य प्रशंसा भी की। ईसाईयत और इस्लाम के ऐतिहासिक रिकॉर्ड की तुलनात्मक व्याख्या करते हुए वे इस्लाम के पक्ष में काफ़ी झुके नज़र आते हैं। इस्लाम और भारतीय सभ्यता के अंतर्संबंधों पर ग़ौर करते हुए विवेकानंद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय-इस्लामिक अतीत इस क्षेत्र की देशज विरासत है। वे मुग़लकालीन सांस्कृतिक उपलब्धियों के प्रति सराहना भाव रखते थे। दिलचस्प बात यह है कि हिंदू स्त्रियों से विवाह करने की मुग़ल नीति भी उन्हें पसंद थी। आज के हिंदू पुनरुत्थानवादियों के लिए इस तरह के विचार कल्पनातीत हैं। विवेकानंद के चिंतन के इन पहलुओं का बाबरी मसजिद विध्वंस के बाद वामपंथी सेकुलर प्रचारकों ने भी इस्तेमाल किया है।

विवेकानंद के रूढ़िभंजक विचारों का उद्गम उनकी अपनी जीवन-यात्रा में भी देखा जा सकता है। कलकत्ता के एक कुलीन कायस्थ परिवार में पैदा हुए असाधारण प्रतिभासम्पन्न बालक नरेंद्रनाथ दत्त का शुरू से ही आग्रह था कि अगर ईश्वर है तो उसका होना बाक़ायदा प्रमाणित किया जाना चाहिए। वह सभी से यही सवाल पूछता था। वयस्क होने पर ब्रह्मसमाज की सदस्यता ग्रहण करने के बाद उसने इस आंदोलन के नेता देवेंद्रनाथ ठाकुर और केशवचंद्र सेन के सामने भी इसी तरह की जिज्ञासा पेश की। उनके उत्तरों से संतुष्ट न होने पर नरेंद्रनाथ ने अपनी खोज जारी रखी और उसी प्रक्रिया में दक्षिणेश्वर के संत रामकृष्ण परमहंस से उसकी भेंट हुई। फिर वही प्रश्न, पर इस बार उत्तर भिन्न मिला। रामकृष्ण परमहंस ने कहा : हाँ, मैं ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित कर सकता हूँ। जैसे तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ, उसी तरह मैं ईश्वर को देखता हूँ पर कहीं अधिक गहनता से।

ऐसा जवाब पाने के बाद नरेंद्र अकसर परमहंस के पास जाने लगा। वह नयी-नयी जिज्ञासाएँ करता और परमहंस उन्हें शांत करते। लेकिन बेचैन और विद्रोही प्रकृति के नरेंद्र ने उन्हें आसानी से अपना गुरु नहीं माना। शुरू में नरेंद्रनाथ ने अद्वैत वेदांत को भी न केवल ख़ारिज किया बल्कि उसका उपहास भी किया। पर

इस दुर्लभ चित्र में बाएँ से बालकृष्ण मुंजे, डॉ. हेडगेवार और एकदम दाएँ सावरकर.

परमहंस धैर्य के साथ उसे सत्य को सभी कोणों से देखने की सीख देते रहे। पाँच वर्ष तक चले इस प्रशिक्षण ने नरेंद्रनाथ को विवेकानंद बनाया। गुरु के सान्निध्य में उन्हें 'निर्विकल्प समाधि' की अनुभूति हुई। अंतिम दिनों में रामकृष्ण ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और भगवा वस्त्र पहनने के लिए दिये। गुरु के देहांत के बाद विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और परिव्राजक संन्यासी के रूप में सिर्फ़ एक दण्ड और कमण्डल लेकर भ्रमण पर निकल गये। वे देश के कोने-कोने में गये, इस प्रक्रिया में असली भारत के दर्शन किये, विभिन्न धर्मावलम्बियों के साथ संवाद स्थापित किया और आम लोगों के जीवन को निकट से देखा। राष्ट्र-निर्माण से संबंधित विवेकानंद का विचार इसी दौर में सूत्रबद्ध हुआ। उन्होंने दो बार लम्बी-लम्बी विदेश यात्राएँ कीं और अपने भाषणों और प्रवचनों के कारण अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। भारत लौटने पर कई जगहों पर उनका भव्य स्वागत हुआ। विवेकानंद का देहांत केवल 39 वर्ष की अवस्था में उस समय हुआ जब वे समाधिस्थ थे। उनके नज़दीकियों के अनुसार वे काफ़ी पहले से कहने लगे थे कि वे चालीस पार नहीं करेंगे।

अद्वैत वेदांत के अनुयायी होने के बावजूद विवेकानंद का चिंतन किसी विशेष अनुशासन की सीमा में बँधा हुआ नहीं था। उनके विचारों में कई तरह के विरोधाभास पाए जाते हैं। इसीलिए भी उनके विचारों के विभिन्न अंश वामपंथियों से लेकर दक्षिणपंथियों द्वारा अपने-अपने समर्थन में इस्तेमाल किये जाते रहते हैं। कई बार बौद्धिक आवेश में वे ऐसी बातें बोल जाते थे जिनसे उनके समर्थकों को भी उलझन होने लगती थी। मसलन, वे इस्लामी शरीर (सामाजिक संगठन) और हिंदू मस्तिष्क (वेदांती चिंतन) का संयोग चाहते थे। कुछ सेकुलर प्रचारक उनकी इस इच्छा का साम्प्रदायिकता विरोधी इस्तेमाल करते हैं, पर इसका एक अर्थ यह भी निकलता है कि विवेकानंद की निगाह में इस्लामी तत्त्वज्ञान कमतर था।[25]

संघपूर्व विमर्श-2

सावरकर और जाति-संघर्ष : संघ परिवार की विचारधारा पर 1923 में प्रकाशित सावरकर की रचना *हिंदुत्व*[26] के प्रभाव को कम करके नहीं आँका जा सकता। सावरकर द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक हिंदुत्व 'वैज्ञानिक', 'ग़ैर-जातिवादी' और 'ग़ैर-आध्यात्मिक' प्रकृति का माना जाता है। सावरकर के अध्येता

---

[25] विवेकानंद के विमर्श और जीवन पर विपुल साहित्य उपलब्ध है. देखें, विलियम रेडिस (सं.) (1999); इसी संकलन में तपन रायचौधुरी और निमाई साधन बोस (1999) के लेख विशेष रूप से पठनीय हैं. विवेकानंद की विस्तृत जीवनी के लिए देखें, स्वामी गम्भीरानंद (1994).

[26] इस रचना के यथासम्भव प्रामाणिक हिंदी-पाठ देखें, 'हिंदुत्व', *सावरकर समग्र,* खण्ड 9 : 29-140.

सुरेश शर्मा के मुताबिक़ सावरकर को धार्मिक आस्थाओं से संबंधित धर्मशास्त्रीय बहसों और आध्यात्मिक वक्तव्यों में कोई रुचि नहीं थी। वे मानते थे कि हिंदुओं को *बाइबिल* जैसे किसी केंद्रीय धार्मिक ग्रंथ की खोज करने की कोई ज़रूरत नहीं है। उन्हें तो प्रमुख रूप से राजनीतिक दायरे में ही अपनी परिभाषा तलाशनी चाहिए। अगर दयानंद विमर्श और उसके आधार पर की जाने वाली सामाजिक कार्रवाई को धार्मिक आस्था और संस्कृति के आधार पर नियोजित करना चाहते थे, तो सावरकर को समाज की पुनर्रचना के लिए धार्मिक और तत्त्वमीमांसीय आधार पर हिंदू धर्म के मूलभूत सत्य की खोज अनावश्यक लगती थी। यह उनका ग़ैर-धार्मिक रवैया ही था जिसके कारण उन्हें श्रद्धानंद के विपरीत छुआछूत के शिकार पंचम वर्ण को हिंदू दायरे का अंग दिखाने में कोई दिक़्क़त नहीं हुई। उन्होंने बेहिचक कहा कि 'हम लोगों में कुछ ब्राह्मण हैं तो कोई नामशूद्र अथवा पंचम भी हैं, परंतु ब्राह्मण हो या चाण्डाल हम सभी हिंदू हैं। एक ही रक्त के हैं।'[27] यह दावा करने के ठीक पहले सावरकर जातिप्रथा के कारण पैदा हुए भ्रम का निवारण करने का प्रयास भी करते हैं : ''जा' धातु से उत्पन्न हुए जाति शब्द का अर्थ है एक ही स्थान पर जन्मे तथा एक ही रक्त और बंधुभाव से जुड़े लोग ... जिस जाति-भेद का यथार्थस्वरूप अज्ञानवश अपनी समझ में नहीं आता, उसी जाति-भेद के कारण एक ही प्रकार का रक्त हम लोगों की नसों में नहीं प्रवाहित होता— ऐसा आप आग्रहपूर्वक कहते हों। परंतु वास्तविकता यह है कि ... आज जो जाति संस्था अस्तित्व में है वही इस बात का प्रमाण है कि ब्राह्मणों से चाण्डालों तक के शरीर में प्रवाहित होने वाला ख़ून एक सा है।'[28]

सावरकर धर्म द्वारा हिंदुओं के पैरों में पड़ी सात बेड़ियाँ ('बंदी') तोड़ने का आह्वान करते हैं। ये हैं : वेदोक्तबंदी (सभी धर्मग्रंथों पर सबका समान अधिकार हो), व्यवसायबंदी (भंगी भी उचित विद्या प्राप्त करके पुरोहित बन सके), स्पर्शबंदी (छुआछूत का सम्पूर्ण उन्मूलन हो), समुद्रबंदी (यात्राओं पर लगे प्रतिबंध की समाप्ति), शुद्धिबंदी (धर्मांतरण करने वाले हिंदुओं को वापस हिंदू बनाने की छूट), रोटीबंदी (उन्मुक्त सहभोज का प्रावधान), बेटीबंदी (विवाह में जाति का कोई बंधन न हो)।

अपनी रचना *हिंदुत्व* में सावरकर का ज़ोर जातिभेदों के बावजूद सभी हिंदुओं को एक ही रक्तसंबंधों में बँधा दिखाने पर बहुत है। इसके लिए वे तरह-तरह के तर्कों की जुगाड़ करते हैं। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सावरकर की कर्मभूमि मुख्यत: महाराष्ट्र थी जहाँ फुले के सत्यशोधक ब्राह्मणों और ग़ैर-ब्राह्मणों के बीच नस्लगत और रक्तगत भेद के तर्कों का उन्नीसवीं सदी से ही प्रचार कर रहे थे। इसकी काट करना सावरकर के लिए बहुत आवश्यक था। इसी मुक़ाम पर यह याद करना भी ज़रूरी है कि फुले के इस तर्क की काट उस समय उन्हें अपना गुरु मानने वाले डॉ. आम्बेडकर भी कर रहे थे। उन्होंने भी अपने तरीक़े से साबित किया था कि जातियों के बीच नस्लगत और रक्तगत वैभिन्न्य नहीं है।

फुले-सावरकर-आम्बेडकर की इस पृष्ठभूमि की उपेक्षा करते हुए जॉन ज़ावोस ने *हिंदुत्व* के इन उद्धरणों से एक ऐसा निष्कर्ष निकाला है जो सावरकर के जाति-संबंधी विचारों के न केवल विपरीत चला जाता है बल्कि उनकी पूरी तरह से ग़लत तस्वीर पेश करता है। ज़ावोस कहते हैं कि सावरकर की निगाह में जातिप्रथा एक ऐसी सकारात्मक व्यवस्था है जिसने समाज के सभी घटकों को उनके लिए यथायोग्य भूमिकाएँ प्रदान कर

[27] देखें, 'हिंदुत्व', वही : 92. सुरेश शर्मा (1996) : 189-215.

[28] वी.डी. सावरकर, वही : 89.

दी हैं, इसलिए सावरकर जाति-संघर्ष नहीं बल्कि जातिगत उन्नति के पक्षधर हैं।[29] दरअसल, सावरकर के जाति संबंधी विचारों के लिए सही स्रोत उनका लम्बा 'जातिभंजक निबंध' है जिसे पढ़ते ही ज़ावोस द्वारा पैदा की गयी ग़लतफ़हमी साफ़ हो जाती है। दरअसल, सावरकर के जातिसंबंधी विचार सैकड़ों पृष्ठों में फैले हुए हैं। उनके केंद्र में उनका तर्क है कि जाति जन्मजात न हो कर पोथीजात है। उन्होंने इस पोथीजात प्रथा को ख़त्म करने के लिए एक सात सूत्रीय व्यावाहारिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। इस कार्यक्रम का मक़सद था जन्मना जाति की जगह गुण-आधारित जाति की स्थापना करना। इसके लिए वे सबसे पहले आनुवंशिक आधार पर गुणों को मानने के विचार को सीमित विचार क़रार देते हुए धर्म द्वारा हिंदुओं के पैरों में पड़ी सात बेड़ियाँ ('बंदी') तोड़ने का आह्वान करते हैं। ये हैं : वेदोक्तबंदी (सभी धर्मग्रंथों पर सबका समान अधिकार हो), व्यवसायबंदी (भंगी भी उचित विद्या प्राप्त करके पुरोहित बन सके), स्पर्शबंदी (छुआछूत का सम्पूर्ण उन्मूलन हो), समुद्रबंदी (यात्राओं पर लगे प्रतिबंध की समाप्ति), शुद्धिबंदी (धर्मांतरण करने वाले हिंदुओं को वापस हिंदू बनाने की छूट), रोटीबंदी (उन्मुक्त सहभोज का प्रावधान), बेटीबंदी (विवाह में जाति का कोई बंधन न हो)। अपने इन सुझावों को धरती पर उतारने के लिए सावरकर ने अपने राजनीतिक जीवन में अस्पृश्यता का पुतला-दहन करने, सहभोज आयोजित करने और अछूतों के स्कूलों में दाख़िले जैसे कई आयोजनों की पहलक़दमियाँ लीं।[30]

मुंजे और वर्णाश्रम का पुनर्संस्कार : मध्यमार्गी विमर्श में संघ-पूर्व हिंदुत्ववादी सिद्धांतकारों के इतालवी फ़ासीवाद और जर्मन नाज़ीवाद से वैचारिक ताल्लुक़ातों का इतिहास बार-बार रेखांकित किया जाता है।[31] बालकृष्ण मुंजे भोंसले मिलिटरी स्कूल के संस्थापक थे, और हिंदुओं का फ़ौजीकरण करना उनका उद्देश्य था। मुंजे इटली जा कर मुसोलिनी से मिले थे। इन तथ्यों को उचित संदर्भ में रखना ज़रूरी है, लेकिन केवल इन्हीं तथ्यों पर ज़ोर देते रहने से यह पता नहीं चलता कि तत्कालीन हिंदू समाज को अपनी इच्छित हिंदू एकता की तरफ़ ले जाने के लिए मुंजे के दिमाग़ में क्या ऊहापोह चल रहा था। मुंजे के भी सामने शुरू से ही सबसे बड़ी समस्या यह थी कि हिंदुओं को एक आधुनिक राष्ट्रीय समुदाय बनाने में सबसे बड़ी बाधा के तौर पर जातिप्रथा से कैसे निबटा जाए, क्योंकि इस प्रथा ने हिंदुओं को जातियों के अनुलंघनीय खानों में बाँट रखा है।[32] मुंजे ने इसके लिए एक फ़ार्मूला भी सुझाया था जिसके अनुसार वर्णाश्रम और जाति को अलग-अलग किया जाना था, और प्रतिलोम व अनुलोम विवाहों के माध्यम से वर्णों के बीच एकता क़ायम की जानी थी ताकि हिंदू-एकजुटता की ज़मीन तैयार हो सके :

> अगर चातुर्वर्ण्य, जो दुनिया में आर्य सभ्यता का विशिष्ट लक्षण है, को क़ायम रखते हुए मज़बूत करना है, मेरा विश्वास है कि ऐसा होना ही चाहिए, और साथ में संघात्मकता और एकजुटता भी विकसित करनी है तो जाति के अनुलंघनीय खानों को ख़त्म करना होगा। चारों भागों के

---

[29] देखें, जॉन ज़ावोस (1999), वही.

[30] सावरकर के जाति संबंधी विचारों पर अलग से अध्ययन करने की आवश्यकता है. देखें, *सावरकर समग्र*, वही, खण्ड 7. अंडमान की क़ैद से छूटने के बाद रत्नागिरी में सावरकर ने लम्बे अरसे तक जाति-विरोधी समाज सुधार का कार्यक्रम चलाया जिसमें अछूतों और अन्य निचली जातियों की शिक्षा, सहभोज और मंदिर-प्रवेश पर ज़ोर था. इसके संक्षिप्त विवरण के लिए देखें, विनय नलवा (2019).

[31] युरोपियन फ़ासिज़म से हिंदुत्ववादियों के सम्पर्कों के शोधपूर्ण विवरण के लिए देखें, मैरिज़ा कैसोलरी : 218-228. कैसोलरी के इस बहुचर्चित लेख की विशेषता यह है कि उन्होंने ऐसे कई तथ्य प्रस्तुत किये हैं जो मुंजे और सावरकर की फ़ासीवाद में दिलचस्पी के भिन्न पाठ की सम्भावना खोल देते हैं. मसलन, मुंजे की संबंधित गतिविधियाँ बीस और तीस के दशक में दिखाई गयी हैं जब फ़ासीवाद का हत्यारा चेहरा साफ़ नहीं हुआ था, और भारतीय राजनीति और बुद्धिजीवियों में उसके समाजवादी स्रोतों को लेकर उत्सुकता थी. साथ ही भारत में कई लोग मानने लगे थे कि फ़ासीवाद हिंदू समाज को गतिशील और ऊर्जस्वित कर सकता है. स्वयं मराठी प्रेस फ़ासीवाद को एक 'कंज़रवेटिव रेवोल्यूशन' की तरह देखता था. केवल मुंजे ही इटली जा कर मुसोलिनी से नहीं मिले थे, बल्कि इस्लामिक चिंतक और कवि मुहम्मद इक़बाल ने भी इसी दौरान इटली जा कर मुसोलिनी से भेंट की थी. मुंजे अगर इतालवी युवकों के फ़ौजीकरण से प्रभावित थे, तो इक़बाल मुसोलिनी के युद्ध संबंधी विचारों से. इक़बाल को मुसोलिनी का यह कथन बहुत पसंद था कि 'युद्ध खून गर्म रखने का एक बहाना है'. इस कथन को इक़बाल ने अपनी 'शाहीं' नज़्म में इस्तेमाल भी किया है.

[32] देखें, क्रिस्तॉफ़ जैफ़्रेलो (1993).

बीच वास्तविक आंगिक एकता स्थापित करनी होगी। इसके लिए धर्मशास्त्रों में लिखित अनुलोम (ऊँची जाति का व्यक्ति नीची जाति की स्त्री से विवाह करे) और प्रतिलोम (नीची जाति का व्यक्ति ऊँची जाति की स्त्री से विवाह करे) पद्धतियों का प्रचलन करना होगा ताकि समाज के चारों हिस्से रक्त-संबंधों में बँध जाएँ और इन चारों मूल वर्णों और जातियों के लिए तय किये गये सामाजिक कामों की विविधता के बीच आंगिक एकता बन सके।[33]

बालकृष्ण मुंजे ... एक ऐसे स्थान की तलाश में थे जहाँ हिंदू समाज के लोग परस्पर भेदभाव भूल कर थोड़ी देर के लिए एक-दूसरे से मिल सकें। ... मुंजे ने ... इस तरह के स्थान की ज़रूरत पर बल दिया। ... संघ की शाखा के विचार का मूल स्रोत इसी में निहित था। मुंजे का कहना था कि मुसलमानों के पास इस तरह का स्थान मस्जिद के रूप में है। उन्होंने याद दिलाया कि हिंदुओं के पास भी वैदिक युग में यज्ञसमारम्भ नामक स्थान हुआ करता था जहाँ चारों वर्ण के लोग धर्म, समाजशास्त्र और आयुर्वेद वग़ैरह पर प्रवचन सुनने आते थे।

संघ की स्थापना से पहले 1923 में व्यक्त किया गया मुंजे का यह कथन वर्णों के बीच 'ऑर्गेनिक यूनिटी' या 'आंगिक एकता' का ज़िक्र करता है। यह एक अहम वैचारिक पद है जिसका इस्तेमाल संघ के प्रत्येक सिद्धांतकार ने बार-बार किया है। गोलवलकर और दीनदयाल उपाध्याय के विचारों में वर्णाश्रम व्यवस्था भारतीय समाज की जिस आंगिक एकता की नुमाइंदगी करती हुई दिखती है, उसकी अभिव्यक्ति हम मुंजे के विचारों में देख सकते हैं। दूसरे, यह कथन हिंदू-एकता क़ायम करने के लिए वर्णाश्रम का पुनर्संस्कार करते हुए चार वर्णों की समाज-व्यवस्था पर ऊँच-नीच के श्रेष्ठता-क्रम के बजाय आपसी समता का फ़ार्मूला आरोपित करने की युक्ति का इस्तेमाल करता है। यह वर्ण-व्यवस्था के उन्मूलन का कार्यक्रम दिये बिना उसके स्थापित ढाँचे को गड़बड़ाने की रणनीति थी। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों को चलन में ला कर ऊँच-नीच ख़त्म करने का यह प्रस्ताव तत्कालीन सामाजिक आग्रहों के हिसाब से ख़ासा रैडिकल था। हम जानते हैं कि वामपंथी समतावादी भी जाति के उन्मूलन के लिए कई बार अंतर्जातीय विवाहों का नुस्ख़ा सुझाते रहे हैं।

इसके अलावा भी मुंजे के दिमाग़ से एक सुझाव और निकला जिसका दूरगामी दृष्टि से काफ़ी महत्त्व था। वे समाज के भीतर एक ऐसे स्थान की तलाश में थे जहाँ हिंदू समाज के लोग परस्पर भेदभाव भूल कर थोड़ी देर के लिए एक-दूसरे से मिल सकें। 1923 में मध्य प्रांत की हिंदू सभा के नेता के रूप में मुंजे ने मालाबार के दंगों की जाँच रपट पेश की जिसमें इस तरह के स्थान की ज़रूरत पर बल दिया। मुझे लगता है कि संघ की शाखा के विचार का मूल स्रोत इसी में निहित था। मुंजे का कहना था कि मुसलमानों के पास इस तरह का स्थान मस्जिद के रूप में है। उन्होंने याद दिलाया कि हिंदुओं के पास भी वैदिक युग में यज्ञसमारम्भ नामक स्थान हुआ करता था जहाँ चारों वर्ण के लोग धर्म, समाजशास्त्र और आयुर्वेद वग़ैरह पर प्रवचन सुनने आते थे। मुंजे का विचार था कि आज के ज़माने में ऐसा स्थान तो नहीं बनाया जा सकता, लेकिन मंदिरों को यज्ञसमारम्भ में बदला जा सकता है। उनका यह विचार स्वामी श्रद्धानंद को भी पसंद आया।[34]

[33] यह कथन मूलतः *मुंजे पेपर्स* (1923), नागपुर में दर्ज है. पर मैंने इसे राम पुनियानी (2005) : 98 से लिया है.
[34] देखें, क्रिस्तॉफ़ जैफ्रेलो (1993), उपरोक्त.

गुरु गोलवलकर के नेतृत्व में विकसित हुई दो राजनीतिक हस्तियाँ : दीनदयाल उपाध्याय और अटल बिहारी वाजपेयी.

नीचे से नहीं, ऊपर से एकता : संघ का विमर्श

यह पता लगाना कुछ मुश्किल ही है कि हिंदूवादी चिंतन की इस विरासत को संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार ने किस प्रकार ग्रहण किया होगा, क्योंकि इस संबंध में कोई विशेष शोध नहीं हुआ है। हेडगेवार के जीवन पर न संघ के विरोधियों ने कुछ रोशनी डाली है, और न ही संघ की तरफ़ से ज़्यादा प्रकाश डाला गया है।[35] जो बातें निकल कर आयी हैं वे ज़्यादा से ज़्यादा हिंदू महासभा और संघ के बीच मतभेदों की है, और उन मतभेदों के कारण महासभा के कई नेताओं द्वारा संघ और हेडगेवार की कभी-कभी कड़ी आलोचना भी सामने आती है। इसके पीछे एक दोतरफ़ा कारण दिखाई पड़ता है। महासभा के नेताओं को लगता था कि उनके संगठन के प्रभाव का संघ ने अपने पैर जमाने में इस्तेमाल तो किया, पर बदले में उसके स्वयंसेवक सभा के कार्यक्रमों में शिरकत नहीं करते। इसके उलट हेडगेवार संघ के स्वयंसेवकों द्वारा महासभा के कार्यक्रमों में महज़ कुर्सी-मेज़ खिसकाने की भूमिका निभाने के ख़िलाफ़ थे। वे महासभा में थे भी, और साथ में संघ की स्वायत्तता को क़ायम रखने के आग्रही भी थे। पूना की एक जनसभा में दिया गया सावरकर का यह विख्यात संघ विरोधी वक्तव्य इन मतभेदों का प्रमाण है। सावरकर ने उस जनसभा में कहा था, 'संघ के स्वयंसेवक की कहानी यह है कि वह जन्म लेता है, संघ का स्वयंसेवक बनता है और बिना कुछ हासिल किये मर जाता है।' दोनों के बीच एक बड़ा मतभेद यह था कि महासभा राजनीति में सीधे हस्तक्षेप पर ज़ोर दे रही थी, और हेडगेवार संघ को ग़ैर-राजनीतिक और 'सांस्कृतिक' बनाए रखना चाहते थे।[36]

---

[35] हेडगेवार के जीवन पर पहली पुस्तिका उनकी मृत्यु के बाद 1941 में वी.एन. शेंदे द्वारा नागपुर से *परमपूजनीय डॉ. हेडगेवार* प्रकाशित की गयी. उसके बीस साल बाद नारायण हरी पालकर ने उनकी जीवनी लिखी. 1979 में सी.पी. भिशीकर ने उनके ऊपर *केशव : संघ निर्माता* शीर्षक से पुस्तक प्रकाशित की.

[36] इस प्रकार के एक विश्लेषण के लिए देखें, सुभाष गाताडे (2004).

संघ के प्रति हमदर्दी के दृष्टिकोण से लिखी जाने वाली राकेश सिन्हा की हेडगेवार संबंधी रचना से इन मतभेदों के एक और पहलू की झलक मिलती है :

> सावरकर–मुंजे–परमानंद की त्रिमूर्ति हिंदू एकता, हिंदू समरसता और हिंदू राष्ट्र को हिंदुओं के राजनीतिक आह्वान, परस्थितिजन्य विश्लेषण, बाह्य आक्रमण और विशेष तौर पर इस्लाम के संदर्भ में निर्धारित–परिभाषित करना चाहता था। ... महासभा कांग्रेस के साथ सीधी प्रतियोगिता में थी। यह एक राजनीतिक होड़ थी जिसमें मुस्लिम लीग विचारधारात्मक 'अन्य' की भूमिका निभा रही थी। लेकिन, संघ की तरफ़ से कांग्रेस या महासभा से कोई प्रतिद्वंद्विता नहीं थी। दरअसल, 1945 तक न तो लीग ने कभी संघ की आलोचना की और न ही संघ ने इस्लामिक कट्टरता और पृथकतावाद को अपने विस्तार की धुरी बनाया।[37]

सिन्हा ने अपनी पुस्तक में हेडगेवार और उनके समय में संघ की उन भूमिकाओं पर प्रकाश डालने की कोशिश की है जो 'साम्राज्यवाद विरोधी', 'क्रांतिकारी' और असहयोग आंदोलन के प्रति हमदर्दी से भरी हुई थीं। यह दिखाने के लिए सिन्हा ने महासभा और मुंजे के साथ कई मसलों पर संघ के मतभेदों की चर्चा की है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण मतभेद है मुंजे और सावरकर द्वारा हिंदुओं के फ़ौजीकरण की कोशिशों में संघ द्वारा शामिल होने से इनकार करते हुए स्पष्ट करना कि संघ हिंदू महासभा की सैनिक शाखा नहीं है। सिन्हा ने पहले हेडगेवार, फिर गोलवलकर और फिर भाऊराव देशमुख को उद्धृत करते हुए यह प्रदर्शित किया है।[38]

ज़ाहिर है कि संघ–पूर्व हिंदूवादी नज़रिये और संघ के बीच के जिस अंतर को यहाँ रेखांकित किया गया है, वह महत्त्वपूर्ण है— पर उसकी प्रकृति रणनीतिक और कार्यनीतिक अधिक प्रतीत होती है। ये विश्लेषण हमें यह नहीं बताते कि दयानंद, श्रद्धानंद, सावरकर और मुंजे द्वारा जिस तरह जाति के प्रश्न को सम्बोधित किया गया, उसके बारे में संघ की राय क्या थी। इसका एक सुराग़ जाति सभाओं के प्रति संघ के दृष्टिकोण का पता लगाने से मिल सकता है, लेकिन इस संबंध में कोई उल्लेखनीय अनुसंधान उपलब्ध नहीं है। हाँ, इस बारे में हमें एक अंतर्दृष्टि जी.पी. देशपाण्डे की छोटी–सी टिप्पणी में मिलती है। देशपाण्डे ने अपनी एक टिप्पणी में सावरकर और गोलवलकर के बीच की वैचारिक जद्दोजहद का सूत्रीकरण इस प्रकार किया है :

> सावरकर के कार्यक्रम का एक हिस्सा था जातिप्रथा के ख़िलाफ़ संघर्ष को हिंदू–एकता की परियोजना का अनिवार्य अंग बनाना। लेकिन संघ परिवार ने इसे अपने कार्यक्रम का हिस्सा कभी नहीं बनाया। संघ ने केवल यह कहना काफ़ी समझा कि वह जाति को कभी स्वीकार नहीं करेगा। बस केवल इतना। यानी एक कार्यक्रम की जगह केवल इतना वक्तव्य भर पेश किया गया। उदारतावादी विश्लेषण न तो सावरकर के जाति के प्रति रवैये को समझ पाया, न ही वह इन दोनों
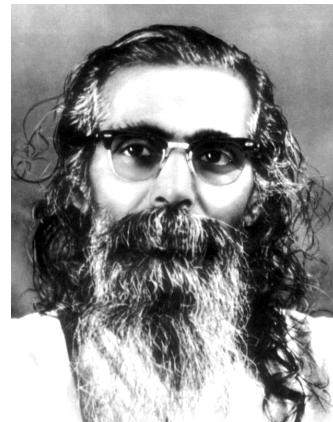
उदारतावादी विश्लेषण न तो सावरकर के जाति के प्रति रवैये को समझ पाया, न ही वह इन दोनों विचारों के बीच मौजूद बहुत बड़े अंतर को समझ पाया। सावरकर का कहना था कि हिंदू–एकता तब तक सम्भव नहीं है जब तक जातिगत विभेदों से नहीं निबट लिया जाता। जबकि संघ का कहना यह था कि हिंदू–एकता ही जातिगत विभेदों से निबट लेगी। संक्षेप में इसे हिंदू–एकता के प्रति दो रवैयों के बीच तनाव की तरह समझा जा सकता है। सावरकर नीचे से एकता के पक्षधर थे, और गोलवलकर व संघ ऊपर से एकता के।

[37] राकेश सिन्हा (2015).

[38] वही.

> विचारों के बीच मौजूद बहुत बड़े अंतर को समझ पाया। सावरकर का कहना था कि हिंदू-एकता तब तक सम्भव नहीं है जब तक जातिगत विभेदों से नहीं निबट लिया जाता। जबकि संघ का कहना यह था कि हिंदू-एकता ही जातिगत विभेदों से निबट लेगी। संक्षेप में इसे हिंदू-एकता के प्रति दो रवैयों के बीच तनाव की तरह समझा जा सकता है। सावरकर नीचे से एकता के पक्षधर थे, और गोलवलकर व संघ ऊपर से एकता के।[39]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ मुंजे और सावरकर को अपने पूर्वजों में स्थान देता है। संघ के संस्थापक केशवराव बलिराम हेडगेवार तो मुंजे के व्यक्तिगत रूप से कृतज्ञ थे। मुंजे की मदद से ही उनकी पढ़ाई-लिखाई हो सकी थी, और सावरकर द्वारा किये गये हिंदुत्व संबंधी सूत्रीकरणों के बिना संघ का अस्तित्व ही सम्भव नहीं था। लेकिन इसके बावजूद संघ ने हिंदू-एकता के संदर्भ में मुंजे और सावरकर के इन विचारों से ख़ुद को दूर रखा। मुंजे द्वारा प्रस्तावित अनुलोम-प्रतिलोम विवाह की युक्ति पर तो उसने ध्यान ही नहीं दिया, साथ ही सावरकर प्रदत्त जाति-विरोध की परियोजना चलाने से भी उसने इंकार कर दिया। नीचे किये गये क्रमवार विश्लेषण में हम देखेंगे कि किस प्रकार संघ ने जातिप्रथा से उलझे बिना हिंदुओं की एकता की एक सांस्कृतिक-राजनीतिक ग्रिड तैयार की और उसे बहुलतासम्पन्न हिंदू समाज पर समरूपता का पाटा चलाए बिना आरोपित करने की योजना पर विभिन्न चरणों में अमल करना जारी रखा।

यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना ज़रूरी है कि सावरकर द्वारा प्रतिपादित 'नीचे से एकता' और संघ द्वारा प्रतिपादित 'ऊपर से एकता' का अर्थग्रहण किस प्रकार किया जाना चाहिए। विमर्श की भाषा में इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि 'नीचे से एकता' का मतलब है 'सोशल' पर ज़ोर देना, और 'ऊपर से एकता' का अर्थ है 'पॉलिटिकल' पर ज़ोर देना। लेकिन, हिंदुत्व की विचारधारा के संदर्भ में यहाँ पॉलिटिकल और सोशल उस तरह से अलग-अलग नहीं हैं जिस तरह कम्युनिस्ट पार्टियों के संदर्भ में आम तौर से माने जाते हैं। कम्युनिस्ट पार्टियाँ साफ़ तौर पर कहती और मानती हैं कि उनका काम समाज-सुधार करना न हो कर राजनीति करना है। इसके विपरीत हिंदुत्ववादी उद्यम, ख़ासकर संघ का उद्यम हिंदू राष्ट्र बनाने के लिए हिंदुओं की राजनीतिक एकता तो हासिल करना चाहता है, लेकिन उस चरण में जाने के लिए वह शुरू से ही सामाजिक आधार पर ज़मीन पकाने की परियोजनाएँ चलाने की विधि भी अपनाता है। इस अध्याय में आगे चल कर आदिवासियों और अनुसूचित जातियों के बीच किये संघ के सामाजिक काम के बारे में चर्चा है। उससे अंदाज़ा लगता है कि संघ की राजनीतिक भुजा (पहले जनसंघ और फिर भाजपा) किस तरह संघ के सामाजिक काम की फ़सल राजनीति के क्षेत्र में काटती है।

हेडगेवार, गोलवलकर और उपाध्याय : संघ के विकास को तीन चरणों में बाँट कर समझा जा सकता है, हालाँकि ये तीनों चरण हमेशा एक-दूसरे से गुँथे हुए और परस्परव्यापी रूप में चलते रहे हैं। काल-विभाजन की दृष्टि से **पहले चरण** को हेडगेवार द्वारा 1925 में संघ की स्थापना से लेकर 1972 में गोलवलकर के देहांत तक माना जा सकता है। निश्चित रूप से यह दौर *मनुस्मृति,* वर्णाश्रम धर्म और भगवा ध्वज के गुणगान का था। हेडगेवार ने संघ के कार्यकर्ताओं को उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन से दूर रखा। स्वयंसेवक ज़ाती तौर पर इस आंदोलन में भाग ले सकते थे, पर संघ के सदस्य के तौर पर नहीं। गोलवलकर ने एक क़दम आगे बढ़ कर असहयोग आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन की निंदा तक की। देशभक्ति को अंग्रेज़ों का विरोध करने के रूप में नहीं, बल्कि हिंदू-एकता के लिए काम करने की तरह भी परिभाषित किया गया। लोकतंत्र के बजाय एकचालकानुवर्तित्व (एक व्यक्ति के आदेश और निर्णय को बिना शंका किये निष्ठापूर्वक पालन करना) को आदर्श भारतीय राज्य के लिए उचित ठहराया गया। संविधान की यह कह कर आलोचना

[39] जी.पी.डी. (2006) : 1165.

की गयी कि उसने हिंदुओं के लिए प्राचीनकाल में बनी विधिसंहिता *मनुस्मृति* से प्रेरणा नहीं ली है। मध्यमार्गी विमर्श इन तथ्यों पर सही ज़ोर देता है, लेकिन वह यह देखने के लिए तैयार नहीं होता कि संघ में सोच-विचार के स्तर पर इसके अलावा भी कुछ और हो रहा था।

मुंजे द्वारा प्रवर्तित अनुलोम-प्रतिलोम विवाह की थीसिस भले ही हेडगेवार को पसंद न आयी हो, लेकिन ऐसा लगता है कि वैदिक युग की भाँति यज्ञसमारम्भ जैसा मिलन-स्थल बनाने की युक्ति उन्हें एक स्तर तक पसंद आयी। मंदिरों को यज्ञसमारम्भ में बदलने के बजाय उन्होंने एक वैसे ही स्पेस को संघ की शाखा के रूप में कल्पित किया। जैफ्रेलो के मुताबिक़ हेडगेवार का रवैया 'मनो-सामाजिक सुधार' का था और वे समझते थे कि वर्णाश्रम की कितनी भी पुनर्व्याख्याएँ की जाएँ, यह व्यवस्थागत संरचना समाज के धरातल पर अंततः विभाजनकारी ही रहेगी। उन्हें ऐसे प्रचारकों की ज़रूरत थी जो ऐसे विभाजन में रहते हुए भी उससे परे जा कर निःस्वार्थ भाव से हिंदू एकता के लिए काम कर सकें। शाखा में ऐसे लोग बनाए जा सकते थे। वास्तव में संघ की शाखाएँ प्रचारक तैयार करने की फ़ैक्ट्रियाँ साबित हुईं। क्रिस्तॉफ़ जैफ्रेलो ने संघ की प्राथमिक सांगठनिक इकाई के तौर पर जाति के प्रश्न पर शाखा के आधारभूत समाजशास्त्र को एक सीमा तक समझने की चेष्टा की है। संघ में शाखा की संरचना को 'रणनीतिक सामासिकता' की संज्ञा देते हुए जैफ्रेलो कहते हैं कि :

> हमारी थीसिस के लिए सबसे उल्लेखनीय तथ्य है शाखा के भीतर पिछड़ी जातियों और अछूतों में से आये सदस्यों का होना जो शाखा की सामाजिक समावेशिकता का प्रमाण है। इस पहलू में संघ का बुनियादी उद्देश्य झलकता है : शाखा के पीछे मक़सद है एक तरह की कुठाली (मेल्टिंग पॉट) तैयार करना, हिंदू राष्ट्र का एक माइक्रोकॉज़्म बनाना। इसका मतलब है एक सार्वभौम और व्यक्तिपरक क़िस्म की एकजुटता के लिए जातिगत विभेदों का उन्मूलन करना।[40]

जैफ्रेलो का विचार है कि शाखा पश्चिमी समतामूलकता और इस्लामी बिरादराना मूल्यों को हिंदू सम्प्रदाय (सेक्ट) के ढाँचे से मिलाने का संस्थागत परिणाम है। वे कहते हैं कि हिंदू परम्परा में सम्प्रदाय एक ऐसी संस्था है जिसके भीतर जातिगत भेदभाव नहीं होते, और सम्प्रदाय का सदस्य एक व्यक्ति के रूप उसके प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होता है। सम्प्रदाय का संचालक गुरु होता है, और उसके सदस्य उसके शिष्य। यानी सम्प्रदाय पदानुक्रमविहीन सामूहिकता और वैयक्तिकता का संगम होते हुए भी अनुशासन और निष्ठा का वाहक होता है। हेडगेवार ने अपने अंतिम भाषण में शाखा को 'हिंदू राष्ट्र का लघुतम रूप' क़रार दिया था। संघ के शिक्षा-शिविर (पहला दस दिन का, और बाक़ी तीन एक-एक महीने के) भी इसी समावेशी चरित्र को अपनाते हैं।
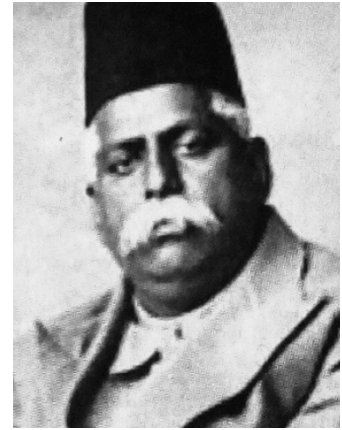
शाखा एक ऐसी जगह थी जहाँ स्वयंसेवक के रूप में व्यक्ति से अपनी जातिगत पहचान थोड़ी देर के लिए स्थगित करने की अपेक्षा की जाती थी, पर ये अपेक्षाएँ उस समय मंद पड़ जाती थीं जब वही स्वयंसेवक व्यापक समाज में एक पति और पिता की भूमिका निभाने जाता था। शाखा और समाज के इस संबंध से एक अंदाज़ा यह लगाया जा सकता है कि संघ ने समाज में जातिगत विभेदों की व्यावहारिक स्थिति से तालमेल बैठाते हुए संगठन के ज़रिये हिंदू एकता के विचार को ऊपर से आरोपित करने की नीति शुरू से ही अपना ली थी।

[40] देखें, क्रिस्तॉफ़ जैफ्रेलो (1993), वही : 517-524. रणनीतिक सामासिकता को जैफ्रेलो ने पश्चिमी समतामूलकता और इस्लामी बिरादराना विचार की हिंदू मूल्यों के साथ एकता के रूप में परिभाषित किया है.

यद्यपि हेडगेवार के ज़माने के लिखित सैद्धांतिक दस्तावेज़ आम तौर पर उपलब्ध नहीं है, पर संघ की शाखा का यह सम्प्रदाय जैसा समावेशी चरित्र शुरुआत से ही बना हुआ है। एक तरफ़ तो व्यावहारिक स्थिति यह थी कि संघ के शुरुआती स्वयंसेवकों में तक़रीबन सभी ब्राह्मण जाति से आये थे, संगठन पूरी तरह से ब्राह्मणों के हाथ में था, संघ की छवि भी ब्राह्मण संगठन की थी (यहाँ तक कि मुंजे ने भी संघ के स्वयंसेवकों का ज़िक्र 'ब्राह्मण बॉयज़' के तौर पर किया है); दूसरी तरफ़ संघ जाति-पदानुक्रम में ब्राह्मण श्रेष्ठता पर बिना प्रहार किये अपनी बुनियादी सांगठनिक इकाई शाखा में स्वयंसेवकों के रूप में जातिगत विभेदों का समतलीकरण करना चाहता था। क्या शाखा के भीतर की यह रणनीतिक सामासिकता सारे समाज पर आरोपित करने की कोई संघी परियोजना थी? ऐसे सामाजिक समतलीकरण की विराट योजना का कोई प्रमाण नहीं मिलता। एक तरह से शाखा एक ऐसी जगह थी जहाँ स्वयंसेवक के रूप में व्यक्ति से अपनी जातिगत पहचान थोड़ी देर के लिए स्थगित करने की अपेक्षा की जाती थी, पर ये अपेक्षाएँ उस समय मंद पड़ जाती थीं जब वही स्वयंसेवक व्यापक समाज में एक पति और पिता की भूमिका निभाने जाता था। शाखा और समाज के इस संबंध से एक अंदाज़ा यह लगाया जा सकता है कि संघ ने समाज में जातिगत विभेदों की व्यावहारिक स्थिति से तालमेल बैठाते हुए संगठन के ज़रिये हिंदू एकता के विचार को ऊपर से आरोपित करने की नीति शुरू से ही अपना ली थी। जी.पी. देशपाण्डे का उपरोक्त अवलोकन एकदम दुरुस्त है कि मुंजे और सावरकर अगर हिंदू एकता की परिकल्पना अगर आधार से ऊपर की तरफ़ चलने वाली प्रक्रिया की तरह करते थे, तो इसके विपरीत संघ की यह परिकल्पना ऊपर से नीचे चलने वाली प्रक्रिया के रूप में थी।

सामाजिक-सांस्कृतिक बहुलता और विविधता के साथ बिना ख़ास छेड़छाड़ किये हुए ऊपर से एकल राजनीतिक अस्मिता की ग्रिड डालने का यह प्रयोग केवल भारत में ही नहीं हुआ है। संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्राज़ील को इसके अन्य उदाहरणों की तरह देखा जा सकता है। इन दोनों देशों की सामाजिक-सामुदायिक बहुलता जानी-मानी है। उसका जबरन समतलीकरण किये बिना इन देशों में विविधताओं पर विभिन्न राजनीति प्रौद्योगिकियों का सहारा लेकर एकल राष्ट्रीय अस्मिता सफलतापूर्वक आरोपित की जा चुकी है। देखने की बात यह है कि भारत की विशेष परिस्थितियों में और संघ परिवार के विशेष लक्ष्यों के तहत हमारे देश में इस लक्ष्य को वेधने का आधारभूत विमर्श कैसे विकसित हुआ। इसके लिए हमें संघ के दूसरे सरसंघचालक माधवराव सदाशिव राव गोलवलकर (1906-1973) और उनके प्रमुख शिष्य दीन दयाल उपाध्याय (1916-1968) के कृतित्व पर एक निगाह डालनी होगी।

नि:संदेह शुरुआती दौर के संघ के सोच-विचार पर *मनुस्मृति* की स्पष्ट छाप थी, और इस मामले में वह आर्यसमाजी और सावरकर के हिंदुत्ववादी रैडिकलिज़म से साथ नहीं खड़ा था। यद्यपि हिंदूपन को वर्णाश्रम का पर्याय बताने के लिए संघ के दस्तावेज़ों में *मनुस्मृति* के बजाय *ऋग्वेद* के पुरुष सूक्त का हवाला दिया गया है, लेकिन संघ के दूसरे सरसंघचालक द्वारा अपनी रचनाओं में और संघ परिवार के प्रकाशनों में इस स्मृति-ग्रंथ की बातों का संस्तुति-भाव से काफ़ी ज़िक्र मिलता है। गोलवलकर ने जिस राष्ट्रवाद की व्याख्या की थी वह हिंदुओं को एक नस्ल मान कर भी चलता था। वर्दीधारी स्वयंसेवकों के अर्धफ़ौजी संगठन के साथ गोलवलकर के इन विचारों का संयोग संघ को युरोपीय फ़ासीवाद के भारतीय संस्करण जैसा बना देते थे। इस दौर में संघ का राष्ट्रवाद संविधान की उन व्यवस्थाओं को ख़ारिज करता था जिनके तहत कमज़ोर जातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान किये गये थे। उसे तिरंगे झण्डे पर भगवा को प्राथमिकता देने में या संविधान पर मनु द्वारा बनाए गये नियमों का प्रभाव न होने के लिए अफ़सोस जताने में कोई संकोच नहीं था।[41] इन्हीं सब प्रवृत्तियों, अभिव्यक्तियों और छवियों को ही अंतिम सत्य मान कर संघ विरोधी विमर्श अपनी भित्ति खड़ी करता रहा। उसने यह नहीं देखा कि इन सब रुझानों के साथ-साथ संघ के भीतर हिंदू एकता का फ़ार्मूला खोजने के लिए एक

[41] संघ के दूसरे सरसंघचालक गोलवलकर के ये वैचारिक रुझान उनकी रचनाओं 1966 में प्रकाशित *बंच ऑफ़ थॉट्स* और 1939 में प्रकाशित *वी ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइंड* से स्पष्ट हो जाते हैं गोलवलकर के इन विचारों के ऊपर एक कड़ी आलोचनात्मक टिप्पणी के लिए देखें, ओ.पी. जायसवाल (2017), यद्यपि यह लेख संघ परिवार की विचारधारा के एक फूहड़ सरलीकरण के अलावा कुछ नहीं है.

वैचारिक जद्दोजहद लगातार चलती रहती थी। दरअसल, उसका मुख्य मक़सद इसी एकता की खोज थी और वह उसे पाने के लिए धर्मशास्त्रों और वर्णाश्रम तक को छोड़ सकता था।

हम देख चुके हैं कि संघ जाति के प्रश्न पर मुंजे और सावरकर से अलग राय रखता था (दरअसल, सावरकर के साथ संघ के वैचारिक मतभेद कहीं ज़्यादा गहरे थे। इनके बारे में अगले हिस्से में चर्चा की गयी है)। जब उसने जाति-संघर्ष की सावरकरवादी सलाह नहीं मानी थी, तो जातियों के बीच टकराव और उनके उन्मूलन की आम्बेडकरवादी और समाजवादी परियोजना से तो उसका नाता कभी बन ही नहीं सकता था। दरअसल, गोलवलकर और दीनदयाल उपाध्याय की अवधि को कुछ ऐसी वैचारिक और कार्यक्रमगत पहलक़दमियों के लिए भी देखा जाना चाहिए जिनमें भविष्य में होने वाले परिवर्तनों के बीज निहित थे।

सबसे पहली बात तो यह है कि गोलवलकर ने एक उल्लेखनीय वैचारिक नवाचार यह कह कर किया, 'वह (वर्ण-व्यवस्था) समाज की अवस्था अथवा आधार नहीं है। वह केवल व्यवस्था या एक पद्धति है। वह उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहायक है अथवा नहीं, इस आधार पर उसे बनाए रख सकते हैं अथवा समाप्त कर सकते हैं।' गोलवलकर ने स्पष्ट रूप से कहा कि किसी ज़माने में वर्णाश्रम ने उपयोगी भूमिका निभाई थी, पर आज सभी वर्ण समाप्त हो गये हैं और केवल एक हिंदू वर्ण बच गया है। संघ के आलोचकों को यह जान कर ताज्जुब हो सकता है कि गोलवलकर ने इस बचे हुए हिंदू वर्ण को शूद्र के रूप में परिभाषित किया था। वे कहते हैं, 'वर्ण और आश्रम की व्यवस्था समाप्त-सी हो गयी है। ऐसा कहा गया है कि कलियुग में केवल एक शूद्र वर्ण ही रहेगा। आज हम देख सकते हैं कि संसार के सभी देशों में शासनकर्ता शूद्र ही हैं। शास्त्रों के अनुसार इस युग के वे स्वामी हैं।'[42]

आज का राजनीतिक युग शूद्रों का है— इस विचार के पहले सूत्रीकरण का श्रेय स्वामी विवेकानंद को जाता है, और इसे किशन पटनायक जैसे समाजवादी और सेकुलर चिंतक तक अपनाते रहे हैं। पटनायक ने तो *भारत शूद्रों का होगा!* शीर्षक से अपने निबंधों का एक संकलन ही प्रकाशित किया है।[43] गोलवलकर के निजी जीवन की जानकारी रखने वाले जानते हैं कि उनके चिंतन पर विवेकानंद की गहरी छाप थी। यहाँ तक कि हेडगेवार के निमंत्रण पर संघ में उनका पहला आगमन अस्थायी क़िस्म का ही था। कुछ दिनों बाद वे संगठन छोड़ कर रामकृष्ण मिशन में चले गये थे। बाद में उन्होंने मिशन के बजाय संघ को चुना। यहाँ गोलवलकर की ख़ास बात यह है कि वे विवेकानंद के सूत्रीकरण को एक अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य देने का यत्न करते हैं। वर्णाश्रम के 'उपयोगी' अतीत के बारे में गोलवलकर की संस्तुति पर बहस की जा सकती है, पर यहाँ हमारा मक़सद यह देखना है कि वर्णाश्रम की मौजूदा स्थिति के बारे में उनके इस आकलन के कारण संघ की रीति-नीति में आगे चल कर क्या परिवर्तन हुए। ध्यान रहे कि वर्णाश्रम को अनुपयोगी मानते हुए भी वे जाति-संघर्ष जैसा कार्यक्रम लेने के हमेशा ख़िलाफ़ थे। उनके जीवनीकार सी.पी. भिशीकर ने उनका एक कथन उद्धृत किया है जो गोलवलकर के वर्णाश्रम और जाति संबंधी विचारों को स्पष्ट कर देता है :

> सांस्कृतिक पुनरुद्धार के साथ वर्ण-व्यवस्था का पुनरुद्धार क़तई जुड़ा हुआ नहीं है। हम न जाति का समर्थन करते हैं, न विरोध। हमें पता है कि इस व्यवस्था ने एक नाज़ुक दौर में समाज की जीवन-रचना को बनाए रखने में अहम भूमिका निभाई है। अगर समाज को उसकी आवश्यकता नहीं है तो वह अपने-आप तिरोहित हो जाएगी और किसी को उस पर खेद भी नहीं होना चाहिए। इसी तरह वर्ण-व्यवस्था भी समाज की स्थायी अवस्था नहीं है, बल्कि एक समाज-प्रणाली भर है। अगर इसकी उपयोगिता ख़त्म हो गयी है तो इसे छोड़ने में किसी को हिचकना नहीं चाहिए। एक प्रणाली बदली जा सकती है, और समाज की

---

[42] देखें, *श्री गुरुजी समग्र* : 18 एवं 241-42.

[43] देखें, किशन पटनायक (1995).

ज़रूरत, सुविधा और उपयोगिता की दृष्टि से बदलती है।[44]

दरअसल, हिंदू समाज का मूल बताने के बजाय वर्णाश्रम को उपयोगिता की कसौटी पर कसने के इसी आग्रह की परिणति आगे चल कर तीसरे सरसंघचालक देवरस द्वारा उसे मरणोन्मुख घोषित कर देने में हुई। संघ द्वारा शूद्र समझी जाने वाली जातियों के हिंदुत्ववादी राजनीतीकरण का प्रोजेक्ट भी इस मूल विचार की देन प्रतीत होता है।

गोलवलकर द्वारा ली गयी दूसरी पहलक़दमी के तीन आयाम थे : छुआछूत विरोध का कार्यक्रम लेना, इसके लिए हिंदू धर्माचार्यों का 'उपयोगितावादी' इस्तेमाल करना, और इस कार्यक्रम को समाज में ले जाने के लिए 'पश्चाताप-जनित विनम्रता' के सिद्धांत का प्रतिपादन करना। साठ के दशक में गोलवलकर की निजी पहलक़दमी से संघ द्वारा छुआछूत का विरोध करने के लिए हिंदू धर्मतंत्र के सर्वाधिक परम्परानिष्ठ हिस्सों को एक मंच पर लाने की कोशिश की गयी। संघ छुआछूत के ख़िलाफ़ अभियान हिंदू धार्मिक दायरे में ही चलाना चाहता था। इसी लिहाज़ से गोलवलकर की कोशिश यह थी कि पहले हिंदू धर्म के सनातनी धर्माचार्यों को इस मसले पर एकजुट किया जाए। दत्तोपंत ठेंगड़ी ने बताया है कि छुआछूत निवारण के लिए शंकराचार्य जैसे धर्माचार्यों की उपयोगिता पर उठाए गये सवाल के जवाब में गोलवलकर ने कहा था, 'शंकराचार्य को मैं या आप मानते हैं या नहीं, यह प्रश्न नहीं है। जिन स्पृश्य लोगों को हम अस्पृश्यता को न मानने के लिए कहते हैं, वे किसको मानते हैं यह वास्तविक प्रश्न है। वे लोग आपको भी नहीं मानते और मुझे भी नहीं मानते। वे शंकराचार्य को मानते हैं। अत: इन लोगों का हृदय परिवर्तन करना है तो धर्माचार्यों द्वारा आदेशपूर्वक उनको समझाना ही सबसे अधिक फलदायी होगा।'[45]

गोलवलकर के प्रति कड़ा आलोचनाभाव रखने वाले संजीव केलकर ने अपनी पुस्तक *लॉस्ट इयर्स ऑफ़ आरएसएस* में वर्णन किया है कि 1969 में उडुपी के एक कार्यक्रम में विश्व हिंदू परिषद (विहिप) की कोशिशों से हिंदुओं के सभी धर्माचार्यों ने आपसी पदानुक्रम भुला कर एक मंच से घोषणा की कि अस्पृश्यता को हिंदू धर्म किसी भी तरह से मान्यता नहीं देता। इनमें चारों शंकराचार्य भी शामिल थे। भिशीकर बताते हैं कि सम्मेलन के इस सत्र की अध्यक्षता विशेष रूप से भरनैया नामक 'हरिजन' से कराई गयी थे जो मैसूर राज्य में अफ़सर रह चुके थे।[46] चूँकि धर्माचार्यों द्वारा इस तरह का ऐलान पहली बार किया जा रहा था, इसलिए आम तौर पर संयमित रहने वाले गोलवलकर इस मौक़े पर खुशी से नाच उठे।[47] क्या गोलवलकर और संघ बदलते वक़्त के कारण पड़े किसी आधुनिकतावादी दबाव में ऐसा कर रहे थे? 1970 में लिखे गये गोलवलकर के एक पत्र से ऐसा नहीं लगता। उडुपी सम्मेलन के मंत्री सूर्यनारायण राव को लिखते हुए गोलवलकर ने कहा था कि 'अस्पृश्यता पर प्रस्ताव एवं उसके प्रति पवित्र भावना मात्र से उसे वास्तविक जीवन में लागू नहीं किया जा सकता। शताब्दियों पुराने दुराग्रह केवल सद्विचारों एवं भावना से नहीं मिटते। कठोर परिश्रम व उचित प्रचार-व्यवस्था द्वारा इसे नगर-नगर, गाँव-गाँव, घर-घर तक ले जा कर लोगों को इन प्रस्तावों को स्वीकार करने व जीवन में उतारने का प्रशिक्षण देना होगा। वह भी केवल आधुनिक युग के दबाव में दी गयी छूट के रूप में नहीं, बल्कि अतीत में हुई भूलों के लिए पश्चात्ताप-जनित विनम्रता के आवश्यक सिद्धांत तथा जीवन-शैली के रूप में इसे अपनाना होगा।'[48]

---

[44] देखें, सी.पी. भिशीकर (1999) : 126.

[45] देखें, *श्री गुरुजी समग्र* : 18 एवं 241-42. साथ ही देखें, दत्तोपंत ठेंगड़ी (2015).

[46] देखें, सी.पी. भिशीकर (2011), उपरोक्त : 158.

[47] देखें, संजीव केलकर (2011) : 81. एक कट्टर संघी परिवार में जन्मे और पेशे से डॉक्टर संजीव केलकर की यह पुस्तक हिंदू-एकता हासिल करने के प्रयासों में संघ की विफलता को आड़े हाथों लेने के लिए लिखी गयी है. केलकर हेडगेवार के प्रशंसक हैं, लेकिन उनका मानना है कि संघ के पतन के बीज गोलवलकर के ज़माने में पड़े, यद्यपि देवरस के कार्यकाल में हिंदू-एकता के मामले में कुछ प्रगति अवश्य हुई. उडुपी प्रस्ताव के लिए देखें, (2015).

[48] देखें, अरविंदन नीलकंदन (2015).

इस मुक़ाम पर यह स्पष्ट करने की ज़रूरत है कि गोलवलकर जब भी वर्णाश्रम की उपयोगिता पर सवालिया निशान लगाते थे, उसमें हमेशा 'यदि' शब्द लगा रहता था। इससे ज़ाहिर होता है कि उनके लिए इस समाज-प्रणाली के साथ हिंदू एकता के कुछ और प्रयोग किये जाने बाक़ी थे। गोलवलकर के दर्शन को संसदीय राजनीति के खाँचे में फ़िट करने का बीड़ा उनके प्रिय शिष्य दीनदयाल उपाध्याय ने उठाया। उपाध्याय की पीठ पर पूरी तरह से गोलवलकर का हाथ था। उपाध्याय ने एक कुशल सिद्धांतकार की भाँति कई वैचारिक युक्तियों का सृजन किया। मसलन, उन्होंने साठ के दशक के मध्य में 'एकात्म मानववाद' की थियरी के ज़रिये वर्णाश्रम को हिंदू समाज में परस्पर संघर्ष के बजाय उसकी आंगिक एकता और समतामूलकता के वाहक के तौर पर पेश किया। उनकी रचनाओं से निकाले गये इन उद्धरणों का एक छोटा-सा कोलाज कहता है :

> समाज में वर्ग होते हैं। यहाँ भी, जातियाँ रही हैं, लेकिन हमने एक जाति से दूसरी जाति के बीच संघर्ष को कभी इसके पीछे का मूलभूत विचार नहीं माना। चार जातियों के हमारे विचार में, उन्हें विराट पुरुष के चार अंगों के रूप में माना गया है। माना जाता है कि विराट पुरुष के सिर से ब्राह्मण, हाथों से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। जब हम इस विचार का विश्लेषण करते हैं तो हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या विराट पुरुष के सिर, हाथ, पेट, और पैरों के बीच के कोई संघर्ष खड़ा हो सकता है। अगर संघर्ष मूलभूत है तो शरीर काम ही नहीं कर पाएगा। एक ही शरीर के विभिन्न हिस्सों के बीच कोई संघर्ष हो ही नहीं सकता। इसके विपरीत 'एक व्यक्ति' प्रबल होता है। ये अंग एक-दूसरे के पूरक ही नहीं हैं बल्कि इससे भी ज़्यादा ये स्वतंत्र इकाई हैं। वहाँ पूरी तरह से अनुराग और आत्मीयता का भाव है। जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति ऊपर बताए आधार पर ही हुई। अगर इस विचार को नहीं समझा गया तो जातियों में एक-दूसरे का पूरक बनने की बजाय संघर्ष पैदा होगा। लेकिन तब यह विकृति है। यह व्यवस्थित व्यवस्था नहीं है, बल्कि इसमें कोई योजना या व्यवस्था नहीं है। सचमुच हमारे समाज की आज यही दशा है। ... परस्परानुकूलता और परावलम्बन वर्ण व्यवस्था का आंतरिक भाव है। सर्वसमभाव ही वर्ण व्यवस्था है। ... लोग जाति-पाँति तोड़क मण्डल बनाते हैं। जाति तो हमारे शरीर का अंग है। हाथ-पैर तोड़क मण्डल नहीं बनाए जा सकते। रूढ़ियाँ जो उपयोगी नहीं, अपने आप समाप्त हो जाती हैं।[49]

इसके अलावा उपाध्याय ने राष्ट्र और राज्य को राष्ट्र-राज्य के रूप में देखने के बजाय अलग-अलग देखने को प्राथमिकता दी। इससे उन्हें मुसलमानों के हमले के कारण राज्य छिन जाने के बावजूद हिंदू राष्ट्र की निरंतरता बने रहने का दावा करने की सुविधा मिल गयी। उपाध्याय ने व्यक्ति के मन और समाज के मन में भेद करते हुए स्थापित किया कि 'व्यक्ति के नाते से कोई व्यक्ति बहुत अच्छा हो सकता है और समाज के नाते से बुरा हो सकता है।' इस तरह से उन्होंने गोलवलकर के उस कथन की सैद्धांतिक प्रामाणिकता सुनिश्चित करने की चेष्टा की कि मुसलमान व्यक्ति के नाते एक बेहतर दोस्त और पड़ोसी हो सकता है, पर उसके सामूहिक आचरण में दुष्टता भरी होती है। और, हिंदू में व्यक्ति के रूप में कमज़ोरियाँ हो सकती हैं, पर सामूहिक मन के एक हिस्से के तौर पर उसका समर्थन किया ही जाना चाहिए।

चतुर्वेदी बद्रीनाथ ने अपनी एक रचना में दिखाने की कोशिश की है कि उपाध्याय की सैद्धांतिकी में गोलवलकर और हिंदू राष्ट्र के विचार से अलग हटने का उद्यम है (जिस तरह मानवेंद्रनाथ राय मार्क्सवाद से हट गये थे) क्योंकि वे हिंदू राष्ट्र या हिंदू चेतना की बात न करके धर्म-राज्य की बात

[49] दीनदयाल उपाध्याय ने 'एकात्म मानववाद' का सिद्धांत 1964 में ग्वालियर में हुए भारतीय जनसंघ के अधिवेशन में पेश किया था. अगले साल पूना में उन्होंने एक व्याख्यानमाला में चार व्याख्यान दिये जिनका पुस्तकाकार संकलन उत्तर-सावरकर हिंदुत्व का प्रमुख सैद्धांतिक दस्तावेज़ माना जाता है. देखें, दीनदयाल उपाध्याय (2001). यह कथन उनकी रचना *एकात्म मानववाद* और डॉ. महेश चंद्र शर्मा (2018) से उद्धृत.

करते हैं।[50] बद्रीनाथजी यह भी कहते हैं कि एक जगह को छोड़ कर उपाध्याय अपनी रचनाओं में कहीं भी हिंदू राष्ट्र की चर्चा नहीं करते। मैं उनके इस आग्रह से असहमत होते हुए दो तर्क दूँगा। पहला, उपाध्याय जिस ज़माने में लिख रहे थे, उस समय तक संघ को लगने लगा था कि हिंदूकरण की बजाय भारतीयकरण का आग्रह अधिक उपयुक्त और सर्वस्वीकार्य है। इसे सिख, जैन और बौद्ध भी मानने को तैयार हो जाएँगे। हिंदुत्ववादी सिद्धांतकार सावरकर के ज़माने से ही हिंदू दायरे से अलग हुए इन तीनों धर्मों को हिंदू आगोश में लेने की युक्तियाँ तलाश रहे थे। स्वयं सावरकर ने भारत में जन्मे धर्म और भारत में नहीं जन्मे पर मौजूद धर्मों के बीच अंतर करके इस ध्रुवीकरण की ज़मीन तैयार कर दी थी। दूसरे, उपाध्याय के वक़्त तक हिंदुत्व का विचार एक अहम परिवर्तन के दौर से गुज़र चुका था। अरविंद शर्मा ने इस तब्दीली के बारे में एक अंतर्दृष्टि मुहैया कराई है।[51] उनके अनुसार जनसंघ की स्थापना के पहले हिंदुत्व को भारत का पर्याय माना जाता था, लेकिन 1950 के बाद भारत को हिंदुत्व का पर्याय समझा जाने लगा। पहले विचार के तहत मुसलमानों और ईसाइयों का हिंदूकरण करने का आग्रह किया जाता था, पर बाद में हिंदूकरण की जगह भारतीयकरण के आग्रह ने ले ली। इसीलिए उपाध्याय ही नहीं, उनके समकालीन बलराज मधोक भी हिंदुत्व या हिंदूकरण के बजाय भारतीयकरण की शब्दावली इस्तेमाल करते हुए नज़र आते हैं। इसी दौरान मधोक ने तो भारतीयकरण की अवधारणा पर एक किताब ही लिख डाली।[52] साठ के दशक और सत्तर के दशक के शुरुआती दौर की राजनीति में भारतीयकरण की अभिव्यक्ति के इस्तेमाल को हिंदुत्व के पर्याय के तौर देखा जाना चाहिए। अरविंद शर्मा का यह तर्क महज़ बारीक क़ताई का परिणाम नहीं था। इसके पीछे हिंदुत्ववादियों द्वारा अपनाई गयी भारतीय लोकतंत्र और संविधान संबंधी समझ थी। इसका ज़िक्र मैं हिंदू पहचान के पाण्डेवधिक और क़ानूनी पहलुओं पर चर्चा के समय करूँगा।

दूसरे, बद्रीनाथजी ने उपाध्याय के इस तर्क की संस्तुति भी की है कि धर्म रिलीजन से अलग और कहीं व्यापक और सर्वसमावेशी है। यानी जिस धर्म और धर्म-राज्य के प्रवर्तक उपाध्याय हैं वह अपने दायरे में इस्लाम और ईसाईयत को भी ले लेता है। दरअसल, धर्म के साथ-साथ उपाध्याय राष्ट्र की जिस आत्मा के रूप में 'चिति' का उल्लेख करते हैं, वह दरअसल एक समरूप हिंदू राष्ट्र बनाने के प्रस्ताव के अलावा कुछ नहीं है। उपाध्याय के अनुसार तीन तरह की सभ्यतामूलक दृष्टियाँ हैं। पहली, भारत एक सभ्यता है (यह संघ की दृष्टि है), भारत में दो सभ्यताएँ हैं— एक हिंदू और एक मुस्लिम (यह मुस्लिम लीग की दृष्टि है, और कांग्रेस ऊपर से तो इसे ख़ारिज करती है पर भीतर से दोनों सभ्यताओं में समायोजन की कोशिश करती है), और भारत में कई सभ्यताएँ हैं (यह कम्युनिस्टों की दृष्टि है, इसलिए वे आत्मनिर्णय के तरफ़दार हैं)। दिलचस्प बात यह है कि स्वयं बद्रीनाथजी ने उपाध्याय के इस सभ्यता संबंधी विश्लेषण का ज़िक्र किया है, जबकि यह अपने-आप में भारतीय सभ्यता को विविधतामूलक मानने के बजाय समरूप और एकात्मक मानने के आग्रह का ही परिणाम है।[53]

बहरहाल, वर्णाश्रम को आधुनिक समतामूलकता के समकक्ष रखने की इस कोशिश के ज़रिये संघ ने व्यावहारिक राजनीति के मैदान में हिंदू-एकता की दिशा में प्रारम्भिक पहलक़दमियाँ लेने की कोशिश की। इसके तहत ब्राह्मणों और द्विजों के प्रति पारम्परिक सम्मान में कोताही किये बिना जनसंघ द्वारा चारों वर्णों के तहत आने वाली हिंदू जातियों को धीरे-धीरे एक समान धरातल मुहैया कराने का प्रयास किया जाने लगा। निश्चित रूप से यह वर्णाश्रम के पुराने आग्रहों में एक नया संशोधन था। संघ के आलोचकों ने 'एकात्म मानववाद' के ज़रिये लाए गये इस विचार-परिवर्तन पर ध्यान नहीं दिया

[50] चतुर्वेदी बद्रीनाथ ने 1993 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *धर्मा, इण्डिया ऐंड वर्ल्ड ऑर्डर : ट्वेंटी वन एसेज़* में दीनदयाल उपाध्याय के सिद्धांतीकरण पर ग़ौर किया था. इसके एक संक्षिप्त रूप के लिए देखें, चतुर्वेदी बद्रीनाथ (2017).

[51] देखें, अरविंद शर्मा (2002) : 1-36.

[52] देखें, बलराज मधोक (1969).

[53] उपाध्याय और गोलवलकर की वैचारिक निष्पत्तियों में कितनी समानता है, इसका अंदाज़ा लगाना हो तो 2015 में प्रकाशित छोटी-सी पुस्तक *एकात्म मानव-दर्शन* पढ़नी चाहिए. इसमें इन दोनों के लेख एक साथ दिये गये हैं.

और इसे ब्राह्मणों द्वारा ग़ैर-ब्राह्मणों को एक बार फिर उल्लू बनाने के नये हथकण्डे के तौर पर देखा। लेकिन, इस आलोचना से बेपरवाह हो कर भारतीय जनसंघ पिछड़ी जातियों के लोधियों, काछियों, नोनिया चौहानों, कुर्मियों, गुज्जरों, सैनियों, सैथवारों के कुछ हिस्सों को अपनी ओर खींचने की कोशिश करता रहा। एक तरफ़ तो इन समुदायों के भीतर चले संस्कृतीकरण के सामाजिक आंदोलनों ने उन्हें हिंदुत्ववादी राजनीतीकरण के लिए ज़रख़ेज़ बनाया, और दूसरी तरफ़ समाजवादियों की प्राथमिकता सूची में यादवों की शीर्ष पर स्थायी उपस्थिति ने भी इन जातियों को राजनीतीकरण की होड़ में अपनी उपेक्षा का एहसास दिलाया और प्रतियोगितावश जनसंघ के नज़दीक धकेल दिया।[54]

साठ के दशक में हुए कांग्रेस के ख़िलाफ़ उत्तर प्रदेश में विपक्षी राजनीति करने वाले दलों का अध्ययन करते हुए एंजिला बर्जर इस निष्कर्ष पर पहुँचीं कि उन दिनों तक 'पिछड़ी जातियों और सम्भवत: अनुसूचित जातियों' के पढ़े लिखे सदस्यों के लिए जनसंघ ऊर्ध्वगामिता का वाहक की छवि देने लगा था।[55] चुनावी आँकड़े भी इससे मिलती-जुलती गवाही देते हैं। 1967 में हुए विधानसभा चुनावों में भारतीय जनसंघ को 99 निर्वाचन क्षेत्रों में जीत मिली। इनमें पिछड़ी जातियों और ब्राह्मणों की संख्या बराबर-बराबर थी। दीनदयाल उपाध्याय के नेतृत्व में द्विजों और शूद्र जातियों की चुनावी एकता निकालने की कोशिश लोहियावादी समाजवाद और आम्बेडकरवादी रिपब्लिकन पार्टी की तरह 'समतामूलकता' से प्रेरित ब्राह्मणवाद की रैडिकल आलोचना पर आधारित नहीं थी। जनसंघ न तो ब्राह्मणवाद-विरोध अपना सकता था, और न ही सवर्ण-अवर्ण के द्विभाजन पर भरोसा कर सकता था। सबसे पहले तो उसे अपने प्रभाव वाली पिछड़ी जातियों को यह समझाना था कि समतामूलकता के नाम पर की जाने वाली राजनीति के चक्कर में आ कर वे ख़ुद को 'अवर्ण' न समझ लें, क्योंकि उनके पास भी एक वर्ण है जो आज भले ही जातिगत पदानुक्रम में नीचे खिसक गया हो, पर किसी ज़माने में द्विज जातियों द्वारा भी सम्मान का पात्र था। बिना यह परिप्रेक्ष्य निकाले हुए द्विजों और शूद्रों की एकता कल्पनातीत ही थी।

इसीलिए उपाध्याय की कोशिश थी कि जनसंघ में ऊँची जातियों के नेताओं को बिना नाराज़ किये शीर्ष पदों से हटने के लिए मनाया जाए, और दूरगामी दृष्टिकोण अपनाते हुए उनकी जगह पिछड़ी जाति से आये नेताओं को दी जाए। (यहाँ यह भी ध्यान रखने वाली बात है कि मध्यमार्गी विमर्श मोटे तौर पर मानता है कि उपाध्याय की योजना पिछड़ों-अनुसूचित जातियों को संगठन में मँझोले स्तर पर रखने की थी। लेकिन, तथ्य बताते हैं कि पिछड़ों को लाने के लिए द्विज जातियों के स्थापित नेताओं से इस्तीफ़े दिलवाए गये।) उत्तर प्रदेश की राजनीति में लोधी समुदाय से आये कल्याण सिंह और शाक्य समुदाय से निकले महादीपक सिंह जैसे नेताओं का जनसंघ की क़तारों में उभार उन्हीं दिनों में हुआ।[56]

'एकात्म मानववाद' ने ऊँची जातियों के साथ पिछड़ी जातियों को राजनीतिक रूप से जोड़ने की वैचारिक ज़मीन तो तैयार कर दी, पर हिंदू समाज के उन हिस्सों के लिए यह थीसिस अपेक्षाकृत निष्प्रभावी थी जिनके पास कोई वर्ण नहीं था अर्थात् जो संविधान की दृष्टि में अनुसूचित जाति या पूर्व-अछूत और अनुसूचित जनजाति या आदिवासी थे। ऐसा लगता है कि इस दौर का संघ आदिवासियों की तरफ़ मुख्य तौर पर ईसाइयों द्वारा किये जाने वाले धर्मांतरण के प्रयासों के संदर्भ में ही ध्यान देता था। इसीलिए 1963 में गोलवलकर ने छत्तीसगढ़ के जशपुरनगर में वनवासी कल्याण आश्रम का उद्घाटन किया। लेकिन, अनुसूचित जातियों में फैल रहे आम्बेडकरवाद की काट करने के लिए उसके पास कोई

[54] संविधान ने सभी 'स्पृश्य' शूद्र जातियों को अन्य पिछड़ा वर्ग की एक विराट श्रेणी में अवश्य डाल दिया है लेकिन इससे उनकी सामाजिक-राजनीतिक बहुलता और विभेद कम होने के बजाय बढ़े ही हैं. उप्र सरकार ने पिछड़े वर्ग की श्रेणी को तीन हिस्सों में विभाजित कर रखा है : पहली श्रेणी में केवल यादव या अहीर आते हैं, दूसरी श्रेणी 'अधिक पिछड़ों' की है जिसमें आठ जातियाँ आती हैं (सुनार, जाट, कुर्मी, गिरी, गुज्जर, गुसाईं, लोध, काछी), तीसरी श्रेणी अत्यधिक पिछड़ों की है जिसमें छोटी-छोटी 70 जातियाँ आती हैं (मौर्य, कुशवाहा, गड़रिया, केवट/निषाद, कहार, मल्लाह आदि).

[55] देखें, एंजिला सदरलैंड बर्जर (1969) : 107-8.

[56] नब्बे के दशक में भाजपा के इस आत्मसंघर्ष के व्यवस्थित विवरण के लिए देखें, अभय कुमार दुबे (2007) : 83-109.

युक्ति नहीं थी। उसे एक कहीं ज़्यादा रैडिकल नवाचार की तलाश थी।

यह तलाश तब पूरी हुई जब उत्तर-गोलवलकर अवधि में संघ ने एक ख़ास मुक़ाम पर हिंदू-एकता के अपने दीर्घकालीन और धीरे-धीरे चलने वाले प्रयास के तहत *मनुस्मृति* आधारित वर्णवादी आग्रहों से बिना कोई रैडिकल मुद्रा अख़्तियार किये किनारा कर लिया। मध्यमार्गी विमर्श संघ में आयी इस तब्दीली को पहचानने के लिए तैयार नहीं हुआ। चूँकि इस परिवर्तन को न समझा गया, और न ही उसके महत्त्व का विश्लेषण किया गया, इसलिए इसके आधार पर चली संघ की कार्यक्रमगत परियोजना की सम्भावनाओं और अंदेशों का भी अर्थग्रहण नहीं हो सका। संघ द्वारा किये गये इस विचार-परिवर्तन पर अगर एक गहरी निगाह डाली जाए तो यह भी दिखता है कि इसकी गुंजाइशें हेडगेवार और गोलवलकर के चिंतन में ही मौजूद थीं। अगर ऐसा न होता तो रैडिकल न लगने वाले इस रैडिकल परिवर्तन से एक वैचारिक क्रम-भंग होता और संघ की सांगठनिक एकता टूट गयी होती।

यह सही है कि संघ अपनी एकता क़ायम रख पाया, पर इस परिवर्तन की पेचीदगी का अंदाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि इस तब्दीली ने संघ की क़तारों में भी बेचैनियाँ पैदा कीं। परिणामस्वरूप संघ की राजनीति में समय-समय पर व्यतिरेक होते रहे, और संगठन के भीतर अंत:संघर्ष (इसे जाति-युद्ध भी कह सकते हैं) दिखाई पड़ता रहा।[57] लेकिन, व्यतिरेकों और अंत:संघर्षों के बावजूद संघ परिवार अपनी बुनियादी टेक से नहीं हटा। यह अलग बात है कि हिंदू-एकता बनने में हो रही देरी से चिढ़ कर ख़ुद उसके भीतर के लोग भी यदाकदा उसकी कड़ी निंदापरक आलोचना भी करते रहे। मध्यमार्गी विमर्श ने इस अंत:संघर्ष पर नज़र तो डाली, लेकिन वह उसे संघ द्वारा अपने विभिन्न संगठनों को नियंत्रित करने में आने वाली दिक़्क़तों के रूप में देखता रहा और इसे वैचारिक परिवर्तन से जोड़ पाने में नाकाम रहा।

वर्णवाद से किनाराक़शी का यह प्रकरण संघ के दस्तावेज़ों में ब्राह्मणवाद विरोध और जाति-तोड़ो की समतामूलक समझी जाने वाली भाषा में व्यक्त नहीं किया गया। संघ के कार्यकर्ताओं और पदाधिकारियों के आत्म-निरूपण में सनातनी धार्मिकता की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति जारी रही। यह सनातनीपन संघ परिवार के दैनंदिन जीवन में कुछ इस तरह व्यक्त हुआ कि मध्यमार्गी विमर्श में निहित सेकुलर दृष्टि ने प्रचलित चातुर्वर्ण्य की प्रतिरक्षा को ही संघ परिवार की प्राथमिकता मान कर संतोष कर लिया। चूँकि संघ के आत्मसंघर्ष की कोई न कोई वजह चिह्नित करनी थी, इसलिए उसे ब्राह्मणवाद द्वारा कमज़ोर जातियों को एक बार फिर अपने वर्चस्व के तले लेने की साज़िश के खाने में डाल दिया गया।

यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि यह रवैया गोलवलकर और दीनदयाल उपाध्याय द्वारा वर्णाश्रम की ख़ूबियाँ गिनाने वाले कथनों का बार-बार उल्लेख करता है, पर संघ के तीसरे सरसंघचालक बालासाहब देवरस के 1974 में दिये गये उस मशहूर भाषण को पूरी तरह से नज़रअंदाज़ कर देता है जिसमें खोखली हो चुकी वर्णवादी समाज-व्यवस्था को उसकी मौत मरने देने का आह्वान करते हुए 'जन्म आधारित विषमता के शास्त्र' का विरोध किया गया है। समाज-वैज्ञानिक और सेकुलर एक्टिविस्टों द्वारा किये गये अनुसंधान-साहित्य में देवरस के इस वक्तव्य की उपेक्षा चकित करती है, क्योंकि यह व्याख्यान सभी भारतीय भाषाओं में अनूदित हो चुका है और संघ और भाजपा के भीतर इसे एक नीतिगत वक्तव्य की हैसियत मिल चुकी है। ज़ाहिर है कि जो रवैया संघ में हुए इस स्पष्ट नीतिगत परिवर्तन को देखने से इंकार करता हो, वह गोलवलकर के ज़माने में ही इस परिवर्तन की आहटों को तो सुन ही नहीं सकता था। यही कारण है कि मध्यमार्गी समझ से निकली वैचारिक आस्थाओं पर उन

---

[57] यहाँ मेरा तात्पर्य संघ परिवार के विभिन्न संगठनों के बीच होने वाले द्वंद्व और संघ के आलाकमान द्वारा उन्हें नियंत्रित करने में आयी कठिनाइयों को सामने लाने वाले शोध से नहीं है. ऐसा शोध उपलब्ध है. भाजपा को नियंत्रित करने में होने वाली दिक़्क़तों के लिए देखें, प्रलय क़ानूनगो (2006) : 51-69. मेरा तात्पर्य तो यहाँ संघ परिवार में चलने वाले सामाजिक संघर्ष से है जिसमें हाशियाग्रस्त समुदाय प्रभुतासम्पन्न द्विज जातियों से सत्ता पर क़ाबिज होने के संघर्ष में उलझे दिखाई देते हैं.

समाज-वैज्ञानिकों के काम का कोई असर नहीं दिखाई पड़ता जिन्होंने संघ की वर्णाश्रम संबंधी दृष्टि और *मनुस्मृति* प्रदत्त वर्णाश्रम के बीच भेद दिखाने की जहमत उठाई और केवल युरोपीय फ़ासीवाद के आईने में देख कर संघ को परिभाषित कर डालने के रवैये के प्रति चेताया।[58] दिलचस्प बात यह है कि प्रचलित समझ को प्रश्नांकित करने वाले इन अनुसंधानों को मध्यमार्गी विमर्श के बौद्धिक पैरोकारों ने 'संघ पर की गयी सहानुभूतिपूर्ण शोध' के खाने में डाल दिया है।

इसी तरह की कई सायास उपेक्षाओं के परिणामस्वरूप समाज-विज्ञान के क्षेत्रों में आज तक इस विषय में कोई सुव्यवस्थित और विस्तृत शोध सामने नहीं आया है जो बता सके कि भाजपा के दायरों में पिछड़ी जातियों और अनुसूचित जातियों की बढ़ती हुई उपस्थिति के हिंदू-एकता के लिए क्या मायने हैं और उसका असर सामाजिक न्याय की लोहिया-आम्बेडकर प्रभावित राजनीति पर क्या पड़ने वाला है। समाज-वैज्ञानिकों ने अभी तक संघ प्रवर्तित हिंदू-एकता की परियोजना और वर्णवाद के बीच चलने वाली दिलचस्प और पेचीदा अन्योन्यक्रिया का शोधपरक और मानकीय मानचित्र बनाने के कार्यभार में अपना निवेश नहीं कर पाया है।[59]

उत्तर-गोलवलकर संघ और बालासाहब देवरस

संघ के विकास के दूसरे चरण के शीर्ष पर वैचारिक रूप से संघ के तीसरे सरसंघचालक बालासाहब देवरस की शख़्सियत थी। गोलवलकर के निधन के बाद संघ की कमान उनके हाथ में आयी। 1974 में उन्होंने अपने एक व्याख्यान 'सामाजिक समता और हिंदू संगठन' से इस पूरी प्रक्रिया को एक नया आयाम दे दिया। गोलवलकर और उपाध्याय ने जहाँ चातुर्वर्ण्य को हिंदू समाज में समतामूलकता के स्रोत की तरह देखा था, वहीं देवरस ने 'जन्म आधारित विषमता के शास्त्र' का विरोध करते हुए स्पष्ट कहा कि :

> वास्तव में देखा जाए तो आज की सम्पूर्ण परिस्थिति इतनी बदल चुकी है समाजधारण के लिए आवश्यक ऐसी जन्मत: वर्ण-व्यवस्था अथवा जाति-व्यवस्था आज अस्तित्व में ही नहीं है। सर्वत्र अव्यवस्था है, विकृति है। अब यह व्यवस्था केवल विवाह संबंधों तक ही सीमित रह गयी है। इस व्यवस्था की 'स्पिरिट' समाप्त हो गयी है, केवल 'लेटर' ही शेष रह गया है। भाव समाप्त हो गया, ढाँचा रह गया। प्राण निकल गया, पंजर रह गया। समाज धारण से उसका कोई संबंध नहीं है। अत: सभी को मिल कर सोचना चाहिए कि जिसका समाप्त होना उचित है, जो स्वयं ही समाप्त हो रहा है, वह ठीक ढंग से कैसे समाप्त हो।

इसी व्याख्यान में देवरस यह भी कहते हैं, 'मेरी यह धारणा है कि दलित बंधु किसी की कृपा नहीं चाहते हैं, वे बराबरी का स्थान चाहते हैं और वह भी अपने पुरुषार्थ से ही। हमारे ये भाई अब तक पिछड़े हुए रहने के कारण चाहते हैं कि सभी प्रकार की सुविधाएँ और अवसर मिलने चाहिए। उनकी यह अपेक्षा और माँग उचित ही है। किंतु अंततोगत्वा उन्हें समाज के विभिन्न घटकों के साथ योग्यता की कसौटी पर स्पर्धा करके ही बराबरी का स्थान प्राप्त करना है। यह उन्हें भी अभिप्रेत होगा।' फुले और आम्बेडकर द्वारा ब्राह्मणों और धर्मग्रंथों पर कठोर प्रहार से ऊँची जातियों में पैदा हुई कटुता को नज़रअंदाज़ करने की अपील करते हुए देवरस ने कहा, 'सभी को इस बात की सावधानी बरतनी चाहिए कि भूतकाल के झगड़ों को वर्तमान में घसीट कर अपने भविष्य को ख़तरे में न डाल दें। ... महात्मा फुले, गोपालराव आगरकर अथवा डॉ. आम्बेडकर

[58] इस संबंध में तीन विद्वानों का काम ख़ास तौर पर उल्लेखनीय है. देखें, वॉल्टर के. एंडरसन और श्रीधर डी. दामले (2005) और क्रिस्तॉफ़ जैफ्रेलो (2005).

[59] कहना न होगा कि ओबीसी राजनीति के ऊपर काफ़ी समाज-वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध है. पर आम तौर पर शोधकर्ता भाजपा द्वारा पिछड़े वर्गों की गोलबंदी को इन जातियों के राजनीतीकरण के महाख्यान का अंग बना देते हैं. इससे होता यह है कि समाजवादियों की तत्संबंधित कोशिशों पर तो रोशनी पड़ती है, पर न तो संघ परिवार की इस परियोजना की विशिष्टता स्पष्ट हो पाती है, और न ही उसके विभिन्न पहलू खुल कर सामने आ पाते हैं.

प्रभृति आदि महापुरुषों ने अपने समाज की बुराइयों पर कड़े प्रहार किये हैं। कुछ जातियों और ग्रंथों की भी कटु आलोचना की है। उसका क्या प्रयोजन था तथा उस समय की परिस्थिति क्या थी, इसे हमें समझना होगा। व्यक्ति, प्रारम्भ में किसी बात की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए तथा जनमत जाग्रत करने के लिए कड़ी भाषा का प्रयोग करता है। किंतु सदा-सर्वदा ऐसा करते रहना सबके लिए आवश्यक नहीं है।'[60]

यहाँ रेखांकित करने की आवश्यकता है कि 'जन्म आधारित विषमता के शास्त्र' का विरोध करके देवरस ने दो तरह के विचार-परिवर्तन किये। पहले तो उन्होंने गोलवलकर के विमर्श की एक ख़ास कमी की भरपाई की। गोलवलकर वर्णाश्रम में चारों जातियों की समानता की चर्चा करते हुए उन्हें एक धर्मप्रदत्त कर्तव्य में भी बाँधने का आग्रह करते थे। पर इससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता था कि धर्मप्रदत्त कर्तव्य जन्मना होना चाहिए या नहीं। देवरस ने आसानी से धर्मप्रदत्त कर्तव्य की शर्त ही निबटा दी, क्योंकि वे वर्णाश्रम की समकालीन वैधता ही ठुकरा देना चाहते थे। दूसरे उन्होंने दीनदयाल उपाध्याय की 'एकात्म मानववाद' वाली थीसिस को किसी प्रकार का खण्डन किये बिना ठुकरा दिया। उपाध्याय का तर्क था कि वर्णाश्रम आधुनिक समतामूलकता के स्रोत की तरह देखा जाना चाहिए, पर देवरस ने उसे किसी भी तरह से उपयोगी मानने से तो इंकार किया ही, साथ ही यह आग्रह भी किया कि इस व्यवस्था को फिर से जिलाने की कोशिश करना भी व्यर्थ है। संघ परिवार के भीतर की यह विवादात्मकता हिंदुत्व विरोधी विमर्श कभी नहीं पकड़ पाया।

सरसंघचालक के इस वक्तव्य के इर्द-गिर्द ही संघ परिवार ने ख़ामोशी के साथ अपने अधिकारिक दायरों से गोलवलकर की दोनों रचनाएँ (*बंच ऑफ़ थॉट्स* और *वी ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइंड*) अदृश्य कर दीं। इसी के बाद अधिकारिक दायरों में संघ ने *मनुस्मृति* का समर्थन तो दूर, इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़ कर,[61] उसका ज़िक्र तक बंद कर दिया। विश्व हिंदू परिषद ने तो स्पष्ट रूप से *मनुस्मृति* से किनारा कर लिया। विहिप की वेबसाइट पर एकदम शुरू में ही अशोक सिंघल का एक वक्तव्य मिलता है जिसमें साफ़ लिखा है कि ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल में कोई 2200 साल पहले लिखी गयी *मनुस्मृति* या *याज्ञवल्क्यस्मृति* को परिषद पूरी तरह से ख़ारिज करती है, क्योंकि किसी भी सभ्य और सुसंस्कृत समाज में इनका कोई स्थान नहीं हो सकता। छुआछूत को पूरी तरह से अस्वीकार करते हुए सिंघल इस वक्तव्य में यह भी बताते हैं कि हमें शूद्रों और अनुसूचित जातियों में अंतर करना होगा, क्योंकि शूद्रों को भारतीय समाज में हमेशा से सम्मानजनक निगाह से देखा जाता रहा है और अनुसूचित जातियाँ मुसलमानों के शासन का परिणाम हैं। विहिप से जुड़े संत-महात्मा बिना किसी भी भेदभाव के किसी को भी मंत्रदीक्षा देते हैं।[62] बालासाहेब देवरस का यह लम्बा व्याख्यान पहली नज़र में ही भाषा और गठन की दृष्टि से राजनीतिक और बौद्धिक कौशल का अनुपम उदाहरण लगता है। संघ के मूल-विचार में बड़ा परिवर्तन प्रस्तावित करते हुए देवरस इसमें अपना स्वर सप्रयास मंद रखते हैं। साफ़ लगता है कि संघ की क़तारों को किसी भी तरह के मनोवैज्ञानिक अंतर्विस्फोट से बचाने के लिए उन्होंने यह युक्ति अपनाई होगी।

देवरस ने एक और काम किया जिसने संघ के हिंदुत्व को सावरकर के हिंदुत्व से तात्त्विक दृष्टि से अलग कर दिया। जो बाद में पचास के दशक से भारतीय जनसंघ के घोषणापत्रों में केवल मुसलमानों के बारे में कही गयी थी (1951 में जनसंघ के घोषणापत्र में मुसलमानों से अपील की गयी थी,

---

[60] बालासाहब देवरस ने 1974 में अपने सरसंघचालक बनने के दो वर्ष बाद यह व्याख्यान पूना की वसंत व्याख्यानमाला के तहत दिया था. इसका मूल हिंदी पाठ और अंग्रेज़ी अनुवाद संघ की वेबसाइट के अभिलेखागार में मौजूद है.

[61] एक उल्लेखनीय अपवाद उस समय सामने आया जब उमा भारती के मुख्यमंत्रित्व में मध्य प्रदेश सरकार ने 23 जनवरी, 2004 को गौ-हत्या पर प्रतिबंध के लिए अध्यादेश जारी किया. इस गौ-वध प्रतिबंध को न्यायसंगत ठहराने के लिए *मनुस्मृति* का हवाला दिया गया था. शम्सुल इस्लाम (2010).

[62] http://vhp.org/featured-article/vhps-view-of-manu-smriti-and-other-smritis/ पर उपलब्ध. 30 अप्रैल, 2017 को देखा गया.

'इस्लामिक तरीक़े से इबादत करने के लिहाज़ से उनका स्वागत है, पर उनसे भारतीय तरीक़े से रहने की उम्मीद की जाती है'), वही बात उनके सक्रिय प्रोत्साहन से खुल कर सभी अल्पसंख्यकों के बारे में कही जाने लगी— यानी देवरस ने अपने व्याख्यानों में कहना शुरू किया कि भारत में रहने वाला हर तरह का धर्मावलम्बी हिंदू है, भले ही उसकी पूजा-पद्धति कुछ भी हो। जैसे ही देवरस ने इस पहलू पर ज़ोर दिया, वैसे ही और साफ़ हो गया कि संघ की प्राथमिकता अल्पसंख्यकों के हिंदूकरण को 'भारतीयकरण' क़रार देने की है। हम जानते हैं कि साठ के दशक में मधोक और उपाध्याय सरीखे सिद्धांतकारों ने हिंदू की जगह भारतीय पद का इस्तेमाल शुरू किया था। साथ ही देवरस के इस वक्तव्य से संघ ने सावरकर द्वारा दी गयी हिंदू की परिभाषा (जिसकी पितृभूमि भी भारत हो और पुण्यभूमि भी) का विस्तार उन धर्मावलम्बियों तक कर दिया जिनकी केवल पितृभूमि ही भारत है। इसके अलावा यह सूत्रीकरण अल्पसंख्यकों को संविधान-प्रदत्त धार्मिक स्वतंत्रता का संघी संस्करण भी था। यह अलग बात है कि हिंदू होने का यह संघ द्वारा विस्तारित दायरा अल्पसंख्यक धर्मों के लिए और भी दुश्चिंताओं का सबब था। लेकिन, इस पहलू से संघ द्वारा हिंदू-राष्ट्र बनाने की प्रक्रिया के विकासमान चरित्र का पता ज़रूर लगता है।

देवरस के प्रशंसक संजीव केलकर ने अपनी रचना में उनके द्वारा किये गये दो ऐसे प्रयासों का भी उल्लेख किया है जिनका आम तौर पर ज़िक्र नहीं होता। पहला प्रयास मुसलमानों को शाखा में आने की अनुमति देने के बारे में था, और दूसरा एकचालकानुवर्तित्व के उसूल को सहचालकानुवर्तित्व में बदलने से संबंधित था।

चूँकि देवरस ने मुसलमानों को भी भिन्न पूजा-पद्धति वाले हिंदू की श्रेणी में रख कर वैचारिक स्तर पर हिंदू-श्रेणी का विस्तार कर दिया था, इसलिए इसलिए इसकी सांगठनिक अभिव्यक्ति भी कहीं न कहीं होनी थी। इसी के अनुसार जैसे ही संघ में मुसलमानों के लिए शाखा के दरवाज़े खोलने का प्रस्ताव आया, देवरस को कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा में महाराष्ट्र के उप प्रांतीय प्रमुख बाबा भिड़े ने देवरस की ज़बरदस्त आलोचना की। हिंदू महासभा के एक प्रतिष्ठित नेता के.बी. लिमये ने पत्र लिख कर इसका विरोध किया। केंद्रीय कार्यकारी मण्डल के कई सदस्यों ने भी देवरस को अपनी नाराज़गी से अवगत कराया। ज़ाहिर था कि देवरस अपने इस सुझाव को सांगठनिक हक़ीक़त में नहीं बदल सकते थे। इसलिए उन्होंने तात्कालिक तौर से क़दम वापस खींच लिए।[63]

दिलचस्प बात यह है कि गोलवलकर के ज़माने में सरसंघचालक के सामने उसके फ़ैसलों के ख़िलाफ़ इस तरह का असंतोष व्यक्त करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। पहले हेडगेवार और बाद में गोलवलकर जिस सांगठनिक उसूल पर संघ को चलाते थे, वह एकचालकानुवर्तित्व था। संघ के आलोचकों द्वारा एकचालकानुवर्तित्व को इस संगठन के लोकतंत्र विरोधी और फ़ासीवादी होने के प्रमाण के तौर पर दिखाया जाता रहा है। देवरस के फ़ैसले की उनके मुँह पर आलोचना इसलिए की जा सकी कि उन्होंने इस उसूल को त्याग कर सहचालकानुवर्तित्व (आम सहमति के आधार पर संगठन को चलाना) के उसूल को अपना लिया था। इस परिवर्तन का विचार देवरस को उस समय आया जब वे आपातकाल के दौरान जेल में थे। उसी समय उन्होंने संदेश भिजवाया था कि एक सरसंघचालक जेल में है, पर छह अन्य शीर्ष पदाधिकारी बाहर हैं और उन्हें ही वास्तविक ज़मीनी स्थिति का सही अंदाज़ा लग सकता है। इसलिए उनकी बात मानी जानी चाहिए। 1977 में जेल से निकलने के बाद देवरस से इस बंदोबस्त को संगठन के बुनियादी उसूल की तरह स्थापित कर दिया।[64]

मुसलमान और अन्य अल्पसंख्यक को ख़ुद को 'हिंदू' मानने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे, लेकिन पूना की वसंत व्याख्यानमाला में दिया गया देवरस का यह व्याख्यान संघ और हिंदू समाज के सबसे कमज़ोर हिस्सों यानी अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के बीच संबंधों को

[63] देखें, केलकर, वही : 145-47.
[64] वही : 334.

लेकर 'गेम चेंजर' साबित हुआ। यही था वह रैडिकल नवाचार जिसकी संघ को लम्बे अरसे से तलाश थी।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों का अंतर्वेशन : संघ की भीतरी स्थितियों पर नज़र रखने वालों का विचार है कि गोलवलकर और देवरस के बीच लम्बे अरसे से संगठन की मुख्य कार्यदिशा को लेकर एक तरह अघोषित बहस चल रही थी। इस बहस में गोलवलकर का आग्रह था कि संगठन रचनात्मक कार्य और राजनीतिक संघर्ष एक साथ नहीं चला सकता। इसीलिए गोलवलकर 'केवल शाखा' के प्रतिमान में विश्वास करते थे, और देवरस को लगता था कि संघ को शाखा पर केंद्रित रहते हुए अपने क़दम उसके बाहर सार्वजनिक जीवन में निकालने चाहिए। प्रेक्षकों का विचार है कि गोलवलकर के इस रवैये कारण ही संघ परिवार के विभिन्न संगठनों की गतिविधियाँ मंद पड़ी हुई थीं। जबकि देवरस चालीस के दशक से ही 'संगठन–गोलबंदी–कार्रवाई' के तितरफ़ा प्रतिमान के हामी थे। उनकी मान्यता थी कि एक बार संगठन जब मज़बूत हो जाए तो उसे समाज–परिवर्तन की गतिविधियों में जुट जाना चाहिए। ऐसा न करने पर संगठन एक तरह के सम्प्रदाय में बदल जाएगा।[65] सरसंघचालक बनते ही देवरस ने संगठन को अपनी कल्पनाशीलता के मुताबिक़ ढालना शुरू कर दिया। उनके नेतृत्व में संघ ने सक्रिय राजनीति में अघोषित भागीदारी शुरू कर दी। इसका बेहतरीन मौक़ा उसे जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चले सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन ने दिया। देवरस ने नानाजी देशमुख को जेपी के साथ घनिष्ठ सम्पर्क बनाने का कार्यभार सौंपा, और स्वयं जॉर्ज फ़र्नांडीज़, मधु लिमये और मधु दण्डवते जैसे समाजवादी नेताओं के साथ सम्पर्क बढ़ाए। आपातकाल लगने पर जेल में संघ और जमायत–ए–इस्लामी के नेतृत्व में एक प्रकार का संवाद चला। इसी के आधार पर देवरस को मुसलमानों के लिए संघ के द्वार खोलने के विषय पर दोबारा सोचने की गुंजाइश मिली। दूसरी तरफ़ उन्होंने पूरे संगठन में एक नयी एक्टिविस्ट ऊर्जा फूँकने की शुरुआत की। इस पुनर्विन्यास का मुख्य रुझान उन समुदायों को संघ के नज़दीक के कार्यक्रम से जुड़ा था जो गोलवलकर और उपाध्याय द्वारा कमोबेश सफलता से लागू किये गये द्विज और शूद्र एकता के फ़ार्मूले के बाहर रह जाते थे।

दरअसल, संघ की अनुसूचित जाति–आदिवासी परियोजना देवरस से पहले सीमित और मंद थी। उनके नेतृत्व में वनवासी कल्याण आश्रम को फिर से डिज़ाइन करके राष्ट्रीय स्वरूप दिया गया और 1979 में सेवा भारती जैसा नया संगठन स्थापित किया गया जिसका काम ही छुआछूत के शिकार रहे समुदायों में शिक्षा के एजेंडे पर काम करना था।[66] संघ ने प्रयोग के तौर पर पहले 1978 में महाराष्ट्र में अनुसूचित जातियों के लिए पतितपावन संगठन का गठन किया। 1981 में मीनाक्षीपुरम में अनुसूचित जातियों के एक समूह द्वारा इस्लाम में धर्मांतरण के बाद संघ ने इस प्रयास को राष्ट्रीय रूप देने का फ़ैसला किया। इसके लिए तक़रीबन सुस्त पड़ी विश्व हिंदू परिषद में नयी जान फूँकी गयी, और दो साल बाद 1983 में उसने फ़ैसला किया कि वह डॉ. आम्बेडकर की जयंती मनाना शुरू करेगा और उसके लिए उसने सामाजिक समरसता मंच का गठन किया। इसकी ज़िम्मेदारी दत्तोपंत ठेंगड़ी को दी गयी। उन्हें फुले–आम्बेडकर विचार और हिंदुत्व के विचार की समान बिंदुओं को रेखांकित करने का एजेंडा थमाया गया।[67]

आम्बेडकर–फुले का विनियोग : सुहास पल्शीकर और गोपाल गुरु ने अपनी रचनाओं में संघ द्वारा आम्बेडकर का विनियोग करने की प्रक्रिया का विस्तृत विश्लेषण किया है।[68] यह स्वीकार करने के

[65] वही : 103.
[66] सेवा भारती की गतिविधियों के शोधपूर्ण ब्योरे के लिए देखें, क्रिस्तॉफ़ जैफ्रेलो (2005) : 211–224.
[67] देखें, दत्तोपंत ठेंगड़ी (2015).
[68] सुहास पल्शीकर (2005) : 208–223. महाराष्ट्र में आम्बेडकर के हिंदूकरण पर चर्चा के लिए देखें, गोपाल गुरु (1991) : 339–41.

बाद कि आम्बेडकर महज़ दलितों के नेता न हो कर राष्ट्रीय हस्ती हैं, संघ ने उन्हें और फुले को प्रात:स्मरणीय महापुरुषों को सूची में शामिल कर लिया। फिर संघ ने दावा किया कि वे सामाजिक एकता के पैरोकार थे इसलिए प्रकारांतर से उन्हें राष्ट्रीय एकता के समर्थक के रूप में देखना चाहिए (इसके विपरीत आम्बेडकर यह मानने के लिए ही तैयार नहीं थे कि हिंदुओं को एक समाज के रूप में देखा जा सकता है। ज़ाहिर है कि आम्बेडकर हिंदू राष्ट्र के समर्थक नहीं हो सकते थे)। संघ आम्बेडकर द्वारा किये गये धर्मांतरण को आलोचनात्मक दृष्टि से देखता रहा था, पर नये दौर में उसने यह कहना शुरू कर दिया कि किसी 'विजातीय' धर्म को न चुनना इस बात का सबूत है कि बाबा साहेब के मन में हिंदू समाज के प्रति कितनी सद्भावना थी। (यह अलग बात है धर्मांतरण करते समय आम्बेडकर ने नव-बौद्धों को जो शपथ दिलाई थी उसमें इस बात का ख़ास तौर से उल्लेख किया गया था कि वे बुद्ध को विष्णु का नवाँ अवतार नहीं मानेंगे। बावजूद इसके हिंदुत्ववादियों ने इस बात पर ज़ोर देना जारी रखा कि जिस समय आम्बेडकर धर्मांतरण के बारे में ऊहापोह कर रहे थे उस समय डॉ. मुंजे ने उन्हें किसी 'विजातीय धर्म' को अपनाने के बजाय बुद्ध धर्म अपनाने की सलाह दी थी। हो सकता है कि आम्बेडकर ने मुंजे से बातचीत की हो। वे सावरकर से भी बातचीत करते थे। लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि बौद्ध बनने का उनका निर्णय मुंजे से प्रभावित था।) आम्बेडकर के रैडिकल विचारों से बेपरवाह हो कर संघ यहीं नहीं रुका। उसने यहाँ तक दावा किया कि आम्बेडकर, सावरकर और हेडगेवार की त्रिमूर्ति जाति और छुआछूत की बुराइयों के कुप्रभाव से समाज को बचा कर हिंदू-एकता की कोशिश में लगी हुई थी। यह दावा करने के बाद कि आम्बेडकर हिंदू समाज का कल्याण चाहते थे, समरसता मंच ने उन्हें और फुले जैसी हस्तियों को एक हिंदू समाज सुधारक के रूप में चित्रित करना शुरू किया, बावजूद इसके कि आम्बेडकर मुख्य रूप से न्याय और नैतिकता के आधारभूत मूल्यों के मुताबिक़ भारतीय समाज की पुनर्रचना करने में विश्वास करते थे। मुस्लिम प्रश्न पर व्यक्त किये गये आम्बेडकर के विचारों का इस्तेमाल करके संघ ने उन्हें मुसलमान विरोधी के तौर पर पेश करना प्रारम्भ किया ताकि उन्हें हिंदुत्ववादी बताने का आधार बनाया जा सके।[69]

आम्बेडकर के विनियोग को वैचारिक वैधता दिलाने के लिए समरसता मंच ने स्थापित दलित बुद्धिजीवियों को अपनी ओर खींचना शुरू किया, और उसमें उसे ख़ासी सफलता भी मिली। वरिष्ठ बुद्धिजीवी गंगाधर पतवणे 1988 में मंच के पुणे सम्मेलन का उद्घाटन करने के लिए तैयार हो गये। विद्यार्थी परिषद द्वारा आयोजित फुले-आम्बेडकर संदेश यात्रा का कई दलित बुद्धिजीवियों ने स्वागत किया। इसके बाद दो सावरकरवादी बुद्धिजीवियों, एस.एच. देशपाण्डे और शेषराव मोरे, ने नब्बे के दशक में आम्बेडकर द्वारा मुसलमानों के रवैये पर संदेह करने और उन्हें हिंदू हित का समर्थक बताने के पक्ष में लिखा। समसरता मंच ने इन दलीलों को हाथोंहाथ लिया और उन्हें आम्बेडकर के बारे में हिंदुत्व की तर्कपद्धति का संदर्भ बिंदु बना लिया।[70] अस्सी के दशक में ही जब दलित पैंथरों ने मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का नाम आम्बेडकर के नाम पर रखने की माँग की तो इस क्षेत्र में ऊँची जातियों और अनुसूचित जातियों के बीच ख़ूनी टकराव भड़क उठा। इस मुक़ाम पर महाराष्ट्र भाजपा ने ऊँची जातियों का साथ देने के बजाय पैंथरों की माँग का समर्थन करने का फ़ैसला किया।

---

[69] पल्शीकर के अनुसार आम्बेडकर के मुसलमान संबंधी विचार एक हद तक समस्याग्रस्त थे, पर उन्हें हिंदुत्वादियों के समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता। इस विषय में उन्होंने 1994 में प्रकाशित अपनी मराठी रचना *डॉ. आम्बेडकरांच्या हिंदूकरणाची चिकित्सा,* डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर अकादमी, सतारा में विस्तार से चर्चा की है.

[70] इस संबंध में संघ और भाजपा का नज़रिया शिव सेना से भिन्न रहा है. शिव सेना नामांतर आंदोलन के ख़िलाफ़ रही है. दरअसल, महाराष्ट्र में दलित आंदोलन की मुख्य सामाजिक शक्ति महार समुदाय और शिव सेना के बीच कभी नहीं बनी. बाल ठाकरे कहते थे कि वे 'थ्री एम' के ख़िलाफ़ हैं— मराठा, मुसलमान और महार. यह अलग बात है कि हिंदुत्व की आलोचना करने वाले दलित बुद्धिजीवी इस अंतर को शायद ही कभी रेखांकित करते हों. वे भाजपा और शिव सेना दोनों को नव-हिंदुत्व की श्रेणी में रखते हैं, यानी एक ऐसे हिंदुत्व की श्रेणी में जो पहले वर्णाश्रम पर ज़ोर देता था, पर अब नहीं देता.

संघ के इन बदले हुए आग्रहों के कारण ही इस दौर में वर्णाश्रम को उत्साह के साथ मंच पर पेश करने की प्रवृत्ति रणनीतिक रूप से कमज़ोर होती चली गयी। संघ द्वारा हिंदुत्ववादी राजनीतीकरण की योजना परिणामवाद के रास्ते पर चल निकली। वर्णाश्रम के प्रति सम्मान अपनी जगह था, लेकिन उसका महत्त्व केवल इतना ही रह गया था कि भाजपा ब्राह्मणवाद विरोधी प्रत्यय या हिंदू समाज के भीतर जातियों का संघर्ष चलाने के समाजवादी और रैडिकल आम्बेडकरवादी मुहावरे से ख़ुद को दूर रखती रही। अपनी इसी रणनीति के परिणामस्वरूप 2000 आते-आते भाजपा यह दावा करने की स्थिति में आ गयी कि उसके पास देश की किसी भी पार्टी से संख्या में अधिक अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सांसद और विधायक हैं।[71]

अगस्त, 2000 में ही भाजपा ने आंध्र प्रदेश की माडिगा अनुसूचित जाति से आये नेता बंगारू लक्ष्मण को राष्ट्रीय अध्यक्ष बनाया (ध्यान रहे कि उन दिनों संघ आंध्र प्रदेश में माला और माडिगा अनुसूचित जातियों के आपसी संघर्ष का लाभ उठाने की फ़िराक़ में था)।[72] बंगारू लक्ष्मण एक स्टिंग ऑपरेशन में कैमरे पर नक़दी लेते हुए पकड़े गये और इस तरह उनका राजनीतिक करियर समाप्त हो गया। मीडिया उन्हें भले ही भूल गया हो, लेकिन संघ और भाजपा के भीतर उनका कार्यकाल उस दस सूत्रीय कार्यक्रम के लिए आज भी जाना जाता है जो उन्होंने सामाजिक न्याय की राजनीति के धरातल पर भाजपा को सरपट दौड़ाने के लिए बनाया था।[73] इस कार्यक्रम में जो दीर्घकालीन रणनीतिक दृष्टि निहित थी, भाजपा आज तक उस पर चल रही है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक देश का ऐसा कोई भी हिस्सा नहीं है जहाँ हिंदुत्ववादी शक्तियों ने अलग-अलग राज्यों की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के कौशलपूर्वक आकलन पर आधारित अलग-अलग कार्यनीतियों का इस्तेमाल करके अनुसूचित जातियों को अपनी तरफ़ खींचने की परियोजना न चलाई हो। यह प्रोजेक्ट इतना विशाल और बहुमुखी है कि इसे केवल छल और धोखे की श्रेणी में डाल कर नहीं निबटाया जा सकता।

आदिवासियों का हिंदूकरण : अनुसूचित जातियों के हिंदुत्व के दायरे में अंतर्वेशन की प्रक्रिया के कुछ पहलुओं पर विचार करने के बाद अनुसूचित जनजातियों या आदिवासियों को हिंदुत्ववादी दायरे में लाने की संघ के प्रयासों की समीक्षा भी आवश्यक है। सवाल यह है कि क्या संघ के लिए यह काम पूर्व-अछूतों को अपने झण्डे तले लाने की कोशिशों से भी अधिक मुश्किल था? आख़िरकार आदिवासी उस तरह से हिंदू समाज की निकटता में नहीं रहे जिस तरह से अंत्यज समाज छुआछूत की वजह से अलग-थलग रहने के बावजूद द्विज और शूद्र समाज की निकटता में रहता रहा है। प्रचलित समझ यह है कि आदिवासी तो 'हिंदू संस्कृति' से अलग-थलग पर्वतों और जंगलों में हिंदू देवी-देवताओं और कर्मकाण्डों से कटे हुई उस दुनिया में रहते रहे हैं जो सिंहबोंगा या मरांग बुरू और पवित्र टोटमों का संसार है। आदिवासियों को गौमांस खाने में भी कोई परहेज़ नहीं रहा है।

इसीलिए संघ विरोधी विमर्श में यह दावा बड़े जोश के साथ किया जाता है कि आदिवासी हिंदू नहीं हैं, वे ब्राह्मणवाद के तहत जातिप्रथा को नहीं मानते और उनमें भक्ति तत्त्व ही नहीं है।[74] इसमें कोई शक नहीं कि इन दावों में बड़ी हद तक सच्चाई भी है, लेकिन ये दावे कुछ इस तरह से किये जाते हैं मानो सदियों से हिंदू समाज और आदिवासी समाज दो अलग-अलग खानों में एक-दूसरे से

---

[71] देखें, *फ़्रंटलाइन,* 29 सितम्बर, 2000 : 4-5.

[72] माला-माडिगा विवाद में संघ की भूमिका के लिए देखें, के.एस. चलम (2005) : 253-264.

[73] इस दस सूत्रीय कार्यक्रम के लिए देखें नागपुर अधिवेशन में भाजपा अध्यक्ष बंगारू लक्ष्मण का वक्तव्य, http://ftp.lkadvani.in/hi/national-executive-2015/2000/president-shri-bangaru-laxmans-address-to-the-national-council-at-nagpur-maharashtra-

[74] संघ की आदिवासी परियोजना के ख़िलाफ़ एक आक्रामक आख्यान के लिए देखें, वीरभारत तलवार (1993) की रचना अभय कुमार दुबे (सं.) में : 174-190.

अपरिचित बने रहे हों। असल में इस तरह की एकतरफ़ा बातें आदिवासियों के हिंदू-जीवन के साथ अन्योन्यक्रिया की विद्वत्तापूर्ण समझ से आँख मूँद कर ही की जाती हैं। 1941 में प्रकाशित अपने बहुचर्चित लेख 'हिंदू मैथड ऑफ़ ट्राइबल एब्ज़ॉर्प्शन' में प्रोफ़ेसर निर्मल कुमार बोस ने उन धीरे-धीरे चलने वाली गहन प्रक्रियाओं का वर्णन किया है जो प्राचीन काल से ही हिंदू दायरे और आदिवासियों को परस्पर निकट लाने की भूमिका निभाती रही हैं।[75] 2006 का निर्मल कुमार बोस स्मृति व्याख्यान देने वाले मानवशास्त्री विद्वान लक्ष्मण कुमार महापात्र के अनुसार :

> प्राचीन भारत में अधिकतर पहाड़ों, जंगलों और अलग-थलग जगहों पर रहने वाले आदिवासी लोग निश्चित रूप से सदियों के दौरान हिंदू किसानों और कारीगरों के साथ एक धीमे लेकिन निरंतर सम्पर्क की प्रक्रिया से गुज़रे होंगे। प्रोफ़ेसर बोस ने इस सिलसिले का चित्रात्मक वर्णन किया है : एक व्यक्ति, दो व्यक्ति, एक परिवार, दो परिवार अपने हिंदू पड़ोसी के सम्पर्क में आकर समय के साथ हिंदू आर्थिक प्रणाली से जुड़े और फिर आंशिक रूप से हिंदू सामाजिक दायरे में भी समा गये। एक तरह के समाज और दूसरे तरह के समाज के बीच होने वाला तनाव इस प्रक्रिया में कोई गम्भीर भूमिका नहीं निभाता है, क्योंकि दोनों में न कोई बहुत अमीर है और न कोई ग़रीब। इसी के साथ-साथ एक तरफ़ तो आदिवासी हिंदू देवी-देवताओं के प्रति आकृष्ट हुए और दूसरी तरफ़ हिंदुओं ने भी आदिवासियों के देवी-देवताओं को अपनाया।[76]

बोस के मुताबिक़ हिंदुओं और आदिवासियों के बीच होने वाली यह मंद अन्योन्यक्रिया किसी भी तरह से उनके आदिवासीपन में क्रमभंग पैदा करने वाली नहीं थी। हिंदुओं के पर्वों में उनकी भागीदारी ने उन्हें हिंदू नहीं बनाया। इस तरह यह प्रक्रिया उनके इस्लाम और ईसाईयत क़बूल करने से भिन्न थी।

महापात्र बताते हैं कि हिंदू-आदिवासी अन्योन्यक्रिया के साथ-साथ देश के कई हिस्सों (ख़ासकर ओडीशा, मध्य प्रदेश, बिहार और असम) में आदिवासियों ने अपने राज्य स्थापित किये और उस प्रक्रिया में बाक़ायदा अपना हिंदूकरण भी किया। ओडीशा में जगन्नाथ सम्प्रदाय, लिंगराज सम्प्रदाय और कुछ अन्य क्षेत्रीय सम्प्रदायों की स्थापना और विकास में आदिवासियों का हाथ रहा है। इन सम्प्रदायों को हिंदुओं ने उत्साह से अपनाया है। शक्तिशाली आदिवासी क़बीलों द्वारा ख़ुद को क्षत्रिय घोषित करने और उस मान्यता को कर्मकाण्डीय स्वरूप देने के लिए ब्राह्मणों का इस्तेमाल एक जाना-माना तथ्य है।

भारतीय मानवशास्त्रीय विद्वत्ता ने आदिवासियों और हिंदुओं की जातिप्रथा के बीच अन्योन्यक्रिया का काफ़ी अध्ययन किया है। बी.के. रॉय-बर्मन, एल.पी. विद्यार्थी और वेरियर एल्विन जैसे अध्येताओं ने जनजातीय समूहों को चार या पाँच भागों में अपने-अपने हिसाब से वर्गीकृत किया है। इनमें ऐसे आदिवासियों की श्रेणियाँ भी शामिल हैं जिनका हिंदू समाज में पूरी तरह से विनियोग किया जा चुका है, या जो हिंदू समाज के प्रति सकारात्मक रुख़ रखते हैं, या जो ग्रामीण इलाक़ों में रहते हैं और जिनका पूरा या आधा रूपांतरण हो चुका है, या जो मैदानी समाज के सम्पर्क में भी हैं और जिन्होंने अपना आदिवासीपन नहीं छोड़ा है, या जिनका हिंदू समाज के निचले पायदान में विनियोग कर लिया गया है, या जो पूरी तरह से हिंदू हो चुके हैं। ज़ाहिर है कि इनमें ऐसे आदिवासियों की श्रेणियाँ भी शामिल हैं जो हिंदू बनने के लिए तैयार नहीं हैं और हिंदू समाज के प्रति नकारात्मक रुख़ रखते हैं।[77] इस मानवशास्त्रीय विद्वत्ता की आदिवासी विद्वानों की तरफ़ से आलोचना भी की गयी है। पर यह आलोचना

---

[75] निर्मल कुमार बोस (1941).

[76] लक्ष्मण कुमार महापात्र (2006).

[77] इस तरह के वर्गीकरण की क़वायद के लिए देखें, बी.के. रॉय-बर्मन (1983); एल.पी. विद्यार्थी और बी.एल. राय (1977); वेरियर एल्विन (1944).

भी मानती है कि 'सैद्धांतिक रूप से यह सम्भव है कि हिंदू धर्म का एक रूप और उसके संस्कार ग्रहण कर लिए जाएँ, और जाति के अर्थों में हिंदू समाज का अंग भी न बना जाए।'[78]

ज़ाहिर है कि यह वर्गीकरण बहसतलब है, लेकिन मानवशास्त्रीय साहित्य से दिये गये इन उद्धरणों का मक़सद यह बताना है कि संघ ने जब आदिवासियों के हिंदूकरण की कोशिश की तो वह कोई एकदम नयी कोशिश नहीं थी। ऐसी सामाजिक गुंजाइशें पहले से मौजूद थीं जिनमें संघ परिवार आदिवासियों को 'भव्य हिंदू परम्परा' के तहत लाने की परियोजना चला सकता था। इसके अलावा आधुनिकीकरण के साथ आदिवासियों की अन्योन्यक्रिया की प्रक्रिया में उनके भीतर हुए धार्मिक परिवर्तनों की उस भूमिका को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता जिसके कारण आदिवासी हिंदूकरण के प्रयासों के विरोध में तीखी प्रतिक्रिया नहीं करते।

संजय कुमार सिंह ने निमाड़ के भीलों पर किये गये अपने अध्ययन में दिखाया है कि बाहर से पड़ने वाले दबावों के प्रति आदिवासी अनुक्रिया उनकी अपनी सामाजिक संरचनाओं में हुए परिवर्तनों के मुताबिक़ तय होती है। अंग्रेज़ों के ज़माने में कपास-श्रमिकों के रूप में राजपूतों और मराठों के साथ अन्योन्यक्रिया के दौरान भीलों में कुछ नयी प्रवृत्तियाँ पैदा हुईं। इसी के साथ उनके बीच गायत्री परिवार, राधा स्वामी सम्प्रदाय और निवेली का कस्तूरबा कन्या आश्रम भी सक्रिय रहा। इन संस्थाओं ने भीलों के बीच दुल्हन देने के बदले क़ीमत वसूलने की प्रथा, शराबख़ोरी और मांसाहार के ख़िलाफ़ मुहिमें चलायीं। राज्य की संस्था द्वारा उजरती मजूरी पर भीलों को काम दिये जाने ने भी उनकी सामाजिक संरचनाओं पर असर डाला। इन प्रक्रियाओं ने आदिवासियों के बीच बाहर से पड़ने वाले धर्मांतरण के दबावों के प्रति आदिवासियों में स्वीकारोक्ति के पहलू पैदा किये।[79]

व्यावहारिक स्थिति यह है कि मध्य भारत के आदिवासी इलाक़ों में संघ के वनवासी कल्याण आश्रम को 'हिंदू आदिवासी' नामक श्रेणी बनी-बनाई तैयार मिली जिसके आधार पर वह ईसाई मिशनरी प्रोजेक्ट के साथ होड़ कर सकता था। मसलन, छत्तीसगढ़ में संघ के काम की शुरुआत से पहले ही आदिवासियों के बीच प्रतिष्ठा प्राप्त गाहिरा गुरु (असली नाम रामेश्वर) के प्रभावी नेतृत्व में जशपुरनगर में ईसाईयत के प्रसार का विरोध हो रहा था। इस विरोध का आधार धार्मिक हिंदू अस्मिता ही थी, क्योंकि गाहिरा गुरु ने कुछ शिव मंदिरों और दुर्गा मंदिर की स्थापना भी की थी। इन मंदिरों के आसपास शिवरात्रि और रामनवमी के त्योहार आदिवासियों की भागीदारी के साथ ख़ूब ज़ोरशोर से मनाए जाते थे। संघ परिवार ने गाहिरा गुरु की लोकप्रियता का लाभ उठा कर बिना किसी विशेष दिक़्क़त के बजरंग बली को आदिवासियों के देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया, और साथ में ईसाई मिशनरियों के ख़िलाफ़ हिंसा में भी उनका इस्तेमाल किया।[80] दक्षिण भारत के आदिवासी नज़ारे को देखने से भी इसका प्रमाण मिलता है। वायनाड के जंगलों में रहने वाले आदिवासियों को अपने प्रभाव के तहत लाने के लिए संघ ने वल्लियुरक्कवु मंदिर के इर्द-गिर्द कांफ्रेस आयोजित की जिसमें आदिवासियों ने बड़े पैमाने पर भाग लिया।[81]

दरअसल, देवरस ने यह परिवर्तन प्रस्तावित करके एक तरह से द्रष्टा की भूमिका निभायी। शुरू में उनका संगठन भी अपने सरसंघचालक की नयी बातों को आत्मसात् नहीं कर पाया। उसकी गतिविधियों में कई तरह के अंतर्विरोध और विरोधाभास पैदा हुए जो आज तक किसी न किसी रूप में अपनी अभिव्यक्ति करते रहते हैं। लेकिन, सत्तर और अस्सी के दशक में संघ की नीति-रीति में हुए इसी परिवर्तन के कारण यह हिंदुत्ववादी संगठन नब्बे के दशक में पिछड़े वर्ग को मिले आरक्षण के गर्भ से निकली राजनीति के मुक़ाबले टिक सका। जैसे ही संघ का अनुसूचित जाति प्रोजेक्ट शुरू

---

[78] वर्जीनियस खाखा (1999) : 1519-1524.
[79] देखें, संजय कुमार सिंह (2009) : 37-111.
[80] सौम्या (2008) : 38-44.
[81] टी.के. रामचंद्रन और पी.टी. जॉन (2005) : 300-304.

हुआ और सामाजिक समरसता मंच की स्थापना हुई, वैसे ही वामपंथी और आम्बेडकरवादी 'समतामूलकता' के मुक़ाबले 'समरसता' की अभिव्यक्ति उभर आयी।

ध्यान रहे कि दीनदयाल उपाध्याय ने अपने साहित्य में 'समरसता' शब्द का इस्तेमाल नहीं किया है। *एकात्म मानववाद* में 'समता' और 'समानता' की अवधारणाओं के बीच फ़र्क़ करते हुए कहीं-कहीं 'सर्वसमभाव' शब्द का इस्तेमाल किया गया है। 'समरसता' अंग्रेज़ी के शब्द 'हारमॅनी' के समकक्ष लगता है, और अस्सी के दशक की शुरुआत में इसके पहले प्रयोग का श्रेय ठेंगड़ी को दिया जा सकता है। आगे चल कर 'समरसता' का विचार नब्बे के दशक में आरक्षण के नाम पर की गयी सामाजिक न्याय की राजनीति की अनुक्रिया में ज़्यादा प्रचलित हुआ। समाज-वैज्ञानिकों के लिए समाजवादी/आम्बेडकरवादी 'समतामूलकता' और हिंदुत्ववादी 'समरसता' के द्वंद्व पर उसी तरह ध्यान देना ज़रूरी है जिस तरह उन्होंने बहुजन समाज पार्टी के संदर्भ में 'बहुजन' से 'सर्वजन' और 'ब्राह्मणवाद' से 'मनुवाद' की यात्रा का अर्थग्रहण करने की कोशिश की है।[82]

प्रश्न यह है कि सावरकर, हेडगेवार, गोलवलकर और उपाध्याय को *मनुस्मृति* प्रदत्त समाज व्यवस्था के एजेंट की तरह पेश करने वाले मध्यमार्गी विमर्श ने 1974 में ही दे दिये गये इस नीतिगत वक्तव्य की तरफ़ से आँखें क्यों और कैसे बंद कर लीं जो पहली नज़र में एक बहुत बड़ा विचारधारात्मक 'शिफ़्ट' प्रतीत होता है? मध्यमार्गी विमर्श के वाहक केवल इतना मानने के लिए तैयार हैं कि देवरस के कार्यकाल में संघ ने अनुसूचित जातियों को फुसला कर हिंदुत्व के दायरे में लाने के लिए कुछ व्यावहारिक और संगठनात्मक क़दम उठाए थे।[83] क्या ये क़दम किसी वैचारिक इंजीनियरिंग का परिणाम थे? इस सवाल से कतराते हुए ये बुद्धिजीवी यही मान कर संघ की विचारधारा का विश्लेषण करते हैं कि उसका हिंदू राष्ट्रवाद ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था की निरंतरता बनाए रखने के लक्ष्य से बँधा हुआ है, और कम से कम इस मामले में उसके भीतर परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं है।[84]

नयी रीति-नीति और हिंदुत्ववादी क़तारों की बेचैनियाँ : तीसरे चरण का विकासक्रम दिखाता है कि 'समरसता' पर आधारित इस नयी रीति-नीति से संघ के भीतर उस समय तक कोई उथल-पुथल नहीं हुई जब तक उसे राजसत्ता में हिस्सेदारी के प्रश्न से नहीं निबटना पड़ा। विपक्ष की राजनीति और उसके आंदोलनकारी संस्करण में हितों के टकराव का मसला कहीं पृष्ठभूमि में स्थित रहता है, और जैसे विपक्ष को सत्ता मिलती है वैसे ही मिल-जुल कर सड़क पर नारे लगाने वाले 'प्रतिनिधित्व' के लहजे में सोचने लगते हैं। आंदोलनगत एकताएँ सरकार में आने पर टूटने के अंदेशों से ग्रस्त हो जाती हैं। भाजपा के साथ भी यही हुआ। उसके भीतर चले द्विज और ग़ैर-द्विज के संघर्ष के कारण उत्तर प्रदेश में इस पार्टी को अपने पहले विभाजन के दुष्परिणामों का सामना करना पड़ा।

अस्सी के दशक से धीरे-धीरे परवान चढ़े रामजन्मभूमि आंदोलन को समरसता की राजनीति के लिहाज़ से दो भागों में बाँट कर देखा जाना चाहिए। पहला भाग वह था जब आडवाणी ने अपनी रथयात्रा की, उन्हें बिहार में गिरफ़्तार किया गया और विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार से भाजपा ने समर्थन वापस

[82] एक विचारधारात्मक पद के रूप में समरसता के महत्त्व की तरफ़ सुहास पल्शीकर ने इशारा किया है. वे कहते हैं कि इसके ज़रिये संघ समता (ईक्वलिटी) के बजाय एकता (यूनिटी) पर ज़ोर देना चाहता था. देखें, सुहास पल्शीकर (2005).

[83] इस संबंध में दो अपवाद मुझे दिखे. देखें, प्रलय क़ानूनगो (2002) और संदीप पेंडसे (2005) की रचना आनंद तेलतुम्बड़े (सं.) में. क़ानूनगो ने अपनी रचना का एक पूरा अध्याय ही देवरस के योगदान पर ख़र्च किया है, पर वे भी देवरस के विमर्श संबंधी योगदान को रेखांकित करने में नाकाम रहे. वे देवरस को संघ नामक एक मशीन के परिणामवादी ऑपरेटर की तरह देखते हैं जिसने उस मशीन को कुशलतापूर्वक राजनीति में लगा दिया. पेंडसे इतना ज़रूर मानते हैं कि देवरस के बाद संघ दलितों और आदिवासियों को अपनी विचारधारा के मुताबिक़ समाज की पुनर्रचना के कार्यक्रम में शामिल करने के बारे में गम्भीर हो गया, लेकिन वे भी संघ की भीतरी पॉलिमिक्स में, देवरस निर्णायक हस्तक्षेप के महत्त्व को चिह्नित नहीं करते.

[84] देखें, आनंद तेलतुम्बड़े (सं.) (2005). इस पुस्तक के पहले हिस्से में कई एक्टिविस्टों और विद्वानों (जैसे, शम्सुल इस्लाम, गोपाल गुरु, संदीप पेंडसे, आनंद तेलतुम्बड़े, राम पुनियानी आदि) ने संघ की दलित परियोजना की विचारधारात्मक जाँच की है. तेलतुम्बड़े और बद्री नारायण की रचनाओं की समीक्षाओं को पढ़ने से भी लगता है कि विद्वानों की निगाह में संघ के आदिवासी और अनुसूचित जातियों के बीच में किये जा रहे समाज सुधारनुमा राजनीतिक काम की सफलता संदिग्ध रही है.

ले लिया। बड़े पैमाने पर जिन कारसेवकों ने अयोध्या पर आक्रमण किया और जिनके ऊपर मुलायम सिंह के मुख्यमंत्रित्व में सीआरपी ने गोली चलाई, उनमें समाज की कमज़ोर जातियों के पुत्रों की काफ़ी संख्या थी। जिन साध्वियों ने इस गोलबंदी में प्रमुख भूमिका निभाई, उनमें एक उमा भारती भी थीं जो मध्य प्रदेश के लोधी समुदाय से आयी थीं। दूसरी साध्वी ऋतम्भरा पंजाब के हलवाई परिवार की थीं। इस आंदोलन की सबसे ज़्यादा जुझारू भुजा की भूमिका निभा रहे बजरंग दल की कमान कुर्मी जाति के विनय कटियार के हाथों में थी। गोरखनाथ पीठ के महंत अवैद्यनाथ स्वयं तो राजपूत जाति के थे, पर ऐतिहासिक रूप से उनकी पीठ की मान्यता पिछड़ी और अनुसूचित जातियों में थी। अवैद्यनाथ की अयोध्या आंदोलन में भूमिका भी इन जातियों को आंदोलन से जोड़ने वाली रही। इस दौरान हुई सामाजिक-राजनीतिक गोलबंदी के प्रभाव में भाजपा को 1990 में हुए उप्र विधानसभा चुनावों में पूर्ण बहुमत मिला। उप्र में भाजपा की सरकार का नेतृत्व दीनदयाल उपाध्याय द्वारा बनाई गयी द्विज-पिछड़ा एकता के गर्भ से निकले कल्याण सिंह को मिला।

निश्चित रूप से नब्बे के दशक की शुरुआत में भाजपा की राजनीति के लिए पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की घोषणा एक चुनौती की तरह थी। मध्यमार्गी विमर्श को यह तो दिखता है कि उसने इस चुनौती का सामना करने के लिए रामजन्मभूमि आंदोलन के ज़रिये जन-गोलबंदी की समांतर रणनीति अपनायी। लेकिन यह विमर्श उस पहलू को रेखांकित नहीं करता जिसके मुताबिक़ रामजन्मभूमि आंदोलन भी इस आत्मसंघर्ष का एक आयाम था। सरकार के शपथ लेते ही यह आंदोलन अपने दूसरे दौर में पहुँच गया। सत्ता के बँटवारे के प्रश्नों ने भाजपा के भीतर एक आत्मसंघर्ष की शुरुआत कर दी। इसे 'द्विज लॉबी बनाम समरसता लॉबी' का नाम दिया जा सकता है। इस सिलसिले में किया गया एक दुर्लभ अवलोकन दृष्टव्य है :

> अप्रैल, 1992 से ही अयोध्या आंदोलन के दूसरे चरण ने ज़ोर पकड़ा। एक तरफ़ अयोध्या मुद्दे पर निर्णायक क़दम उठाने के लिए विश्व हिंदू परिषद का दबाव बढ़ा तो दूसरी तरफ़ भाजपा के भीतर अगड़ों-पिछड़ों की खींचतान बढ़ी। अयोध्या आंदोलन साम्प्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता का ही संघर्ष नहीं था। यह उत्तर भारत की सत्ता में अगड़ों और पिछड़ों की हिस्सेदारी का संघर्ष भी था। भारतीय जनता पार्टी भले ही इस संघर्ष में साम्प्रदायिकता का खुल्लमखुल्ला पक्ष लेकर धर्मनिरपेक्षता की दुविधा से उबर गयी हो, पर अगड़ों-पिछड़ों के संघर्ष में वह (जाने-अनजाने) हमेशा फँसी रही।[85]

हक़ीक़त यह है कि जिस समय भाजपा रामजन्मभूमि आंदोलन की राजनीतिक फ़सल काट रही थी, उस समय उसकी उत्तर प्रदेश इकाई में अगड़ा-पिछड़ा संग्राम जारी था। इसमें मुरली मनोहर जोशी, गोविंदाचार्य और कल्याण सिंह जैसे नेता आपस में भिड़े हुए थे। तत्कालीन महासचिव गोविंदाचार्य के नेतृत्व में एक पक्ष 'समरसता' के आग्रह के साथ 'सोशल इंजीनियरिंग' के पक्ष में था ताकि 'भाजपा की पूरे समाज में पैठ' हो सके और उसके भीतर 'चाल, चेहरा, चरित्र' के स्तर पर बदलाव हो सके। व्यावहारिक रूप से इसका मतलब यह था कि पिछड़ों को अधिकाधिक टिकट देना। इसके उलट मुरली मनोहर जोशी 'एकात्म मानववाद' का हवाला देते हुए इस रवैये को 'पार्टी विचारधारा और सिद्धांतों के प्रतिकूल' बता रहे थे।[86]

'समरसता' का विचार संघ परिवार की आरक्षण संबंधी दृष्टि में शुरू से ही झलकता है। 1990 में जैसे ही विश्वनाथ प्रताप सिंह ने आंतरिक राजनीति के दबावों का सामना करने के लिए पिछड़े वर्गों को मण्डल रपट के आधार पर आरक्षण दिया, संघ के मुखपत्र *ऑर्गनाइज़र* ने इस क़दम का जो आलोचना की वह भाजपा की भविष्य की राजनीति की तरफ़ इशारा करने वाली थी। इस पत्र ने वी.पी. सिंह को 'कुछ समृद्ध पिछड़ी जातियों का दलाल' ठहराते हुए कहा कि भारत के मण्डलीकरण की असली लाभार्थी यही जातियाँ होंगी। शुरुआती दुविधा ज़रूर रही, पर भाजपा ने मण्डल कमीशन की

---

[85] देखें, अरुण कुमार त्रिपाठी (1997) : 83.

[86] संघ परिवार के भीतर चलने वाली सैद्धांतिक बहसें किसी पूर्व-स्थापित सिद्धांत का स्पष्ट खण्डन किये बिना चलती हैं. इसीलिए एकात्म मानववाद के बुनियादी तर्क देवरस द्वारा खण्डन कर दिये जाने के बावजूद इस थीसिस की साख स्वयंसेवकों के बीच अभी क़ायम है और द्विज जातियों से आये नेताओं और कार्यकर्ता इसे अपने पक्ष में इस्तेमाल करते रहते हैं.

सिफ़ारिशों का समर्थन करने में ज़्यादा वक़्त नहीं गँवाया।[87] 1991 में भाजपा ने अपनी आरक्षण संबंधी नीति तैयार कर ली। उसने प्रस्तावित किया कि आरक्षण का उद्देश्य पिछड़े वर्गों के बीच ग़रीबों को लाभ पहुँचाने पर होना चाहिए, और साथ में ऊँची जातियों को भी आर्थिक आधार पर आरक्षण देने के बारे में सोचा जाना चाहिए।[88] दरअसल, 'समरसता' का विचार 'ब्राह्मणवाद बनाम अनुसूचित जाति+पिछड़े' के विचार से हट कर एक 'द्विज+अनुसूचित जाति+पिछड़ा' के तर्ज़ पर हिंदू-एकता कल्पित करता है। यह एक ऐसे प्रत्यय की तरफ़ इशारा करता है जिसमें विशेष अवसरों का उसूल ख़ास तौर पर पिछड़ों और अनुसूचित जातियों के लिए (उनमें भी ग़रीबों के लिए विशेष तौर पर) और आम तौर पर समग्र हिंदू समाज के लिए उपलब्ध कराने का आग्रह है। मध्यमार्गी विमर्श करता यह है कि वह भाजपा के इस दृष्टिकोण को समाजवादी विचार और आम्बेडकरवाद से प्राप्त अपनी ब्राह्मणवाद विरोधी कसौटी पर कस कर छल का नाम दे देता है, और इस तरह यह देखने से चूक जाता है कि उत्तर भारत में भाजपा शुरू से ही पिछड़ों में भी अति-पिछड़ों और अनुसूचित जातियों में भी अति-अनुसूचित जातियों की पार्टी बन कर उभरना चाहती थी। इसके पीछे साठ के दशक की राजनीतिक व्यावहारिकताएँ भी थीं। पिछड़ों-अनुसूचित जातियों के राजनीतीकरण की प्रतियोगिता में पिछड़ों की सबसे मज़बूत जाति यादव समाजवादियों के हिस्से में और अनुसूचित जातियों में सबसे मज़बूत जाति जाटव आम्बेडकरवादियों के हिस्से में आयी थी। हिंदुत्ववादी गोलबंदी के लिए भारतीय जनसंघ और भाजपा को ग़ैर-यादव और ग़ैर-जाटव ही उपलब्ध थे और आज भी स्थिति यही है।

बहरहाल, नब्बे के दशक में चले भाजपाई आत्मसंघर्ष पर गहरी नज़र डालने से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदुत्व के दायरे में पिछड़ों-अनुसूचित जातियों को लाने की भाजपाई परियोजना रुक-रुक कर और झटके खाते हुए बढ़ी। उप्र में भाजपा की चुनाव समितियों में होने वाली बहसें बताती हैं कि पार्टी हर क़दम पर द्विजों और शूद्र जातियों के बीच आदर्श संतुलन प्राप्त करने की कोशिश करती रही।[89] इसमें उसे कभी कामयाबी मिली, तो कभी नहीं। लेकिन उसने इस प्रयास को कभी बंद नहीं किया। द्विज लॉबी ने एकाधिक बार जीत हासिल की, पर उसकी विजय कभी स्थायी नहीं रह पायी।

उत्तर प्रदेश में पिछड़ी जातियों और अनुसूचित जातियों की राजनीतिक गोलबंदी का अध्ययन करने वाले अनिल कुमार वर्मा के अनुसार 1989 से 1996 के बीच भाजपा के विधायकों में पिछड़े वर्गों की उपस्थिति लगातार बढ़ी। 1985 में जहाँ उसके विधायक दल में ओबीसी के नाम पर केवल यादव और लोधी मिला कर कुल पाँच विधायकों की मौजूदगी थी, उसके बाद 1996 में 36 ओबीसी विधायकों में नौ पिछड़ी जातियाँ (यादव, कुर्मी, लोधी, गूजर, केवट, काछी, सैथवार, गड़रिया और राजभर) अपनी नुमाइंदगी दिखा रही थीं। इनमें यादवों की संख्या सबसे कम और कुर्मियों और लोधियों की संख्या सबसे ज़्यादा थी।[90] 1998 में भाजपा के चुनावी जनाधार का एक मानचित्र बताता है कि भाजपा को मिले प्रत्येक सौ वोटों में 13 वोट ब्राह्मणों के, 15 राजपूतों के, 17 अन्य ऊँची जातियों के, तीन यादवों के, 30 ग़ैर-यादव पिछड़ी जातियों के, आठ अनुसूचित जातियों के और दस अन्य समुदायों के थे।[91] भाजपा की चुनावी हिंदू-एकता का यह नज़ारा बताता है कि उस समय तक भाजपा की चुनावी जीत ऊँची जातियों और ग़ैर-यादव पिछड़ों के भरपूर समर्थन के बिना नामुमकिन थी। इस समर्थन आधार को और पुख़्ता करने के लिए 2001 में राजनाथ सिंह के मुख्यमंत्रित्व में

---

[87] देखें, 16 सितम्बर, 1990 का *ऑर्गनाइज़र,* खण्ड 42, अंक 6. पिछड़ों को आरक्षण की घोषणा होते ही भाजपा को लगा कि वह मुश्किल में फँस गयी है. उसे ऊँची जातियों के वोट भी चाहिए थे (जो मण्डल के ख़िलाफ़ खड़े थे) और पिछड़ी जातियों (जो मण्डल के लाभार्थी थे) के भी. वी.पी. सिंह की घोषणा का विरोध करने पर वह पिछड़ों का समर्थन खो सकती थी, और उसका स्वागत करने पर ऊँची जातियों का. ऐसे मुश्किल समय में भाजपा के कई ओबीसी सांसदों ने पार्टी के आलाकमान को सफलतापूर्वक समझाया कि उसे रपट का सीधा विरोध नहीं करना चाहिए.

[88] देखें, भाजपा द्वारा 1991 में प्रकाशित दस्तावेज़ *मिड टर्म पोल टू लोकसभा, मई 1991 : अवर कमिटमेंट टुवर्ड्स रामराज्य,* नयी दिल्ली.

[89] इस जद्दोजहद के एक नमूने के लिए देखें, अरुण कुमार त्रिपाठी (1997), वही : 32–35, देखें, अध्याय 'संघ परिवार के गृह युद्ध में'.

[90] अनिल के. वर्मा (2007) : 157–190.

[91] स्रोत, नैशनल इलेक्शन सर्वे 1998 (एनईएस 1998), आँकड़ा एकांश, विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस), दिल्ली.

भाजपा ने मौजूदा ओबीसी आरक्षण में अति-पिछड़ों को विशेष आरक्षण देने का नियोजित प्रयास किया। हुकुम सिंह कमेटी गठित की गयी। इसके तहत पंचायत स्तर पर इन जातियों की गणना के रजिस्टर बनाए जाने लगे। यह देख कर यादव नेताओं का माथा ठनका। मामला अदालत में गया और अनुसूचित जातियों और जनजातियों को छोड़ कर जातिगत जनगणना न करने के आग्रह के कारण फ़ैसला इसके ख़िलाफ़ आया।

ऊपर दिये गये आँकड़ों से ज़ाहिर है कि नब्बे के दशक की उत्तर प्रदेशीय राजनीति में अनुसूचित जातियों के वोट भाजपा को गिने-चुने ही मिलते थे। इसका कारण था नब्बे का पूरा दशक भाजपा द्वारा मुलायम सिंह यादव को सत्ता में आने से रोकने के लिए बहुजन समाज पार्टी से चुनाव-उपरांत गठजोड़ करते हुए गुज़ारना। बावजूद इसके कि भाजपा नब्बे के दशक के उत्तरार्ध में अनुसूचित जातियों को, ख़ासकर ग़ैर-जाटव अनुसूचित जातियों को संगठन के विभिन्न पदों पर बैठाने लगी थी, अनुसूचित जाति राजनीतीकरण की प्रक्रिया पर जाटव समुदाय ही हावी था और उनकी पहली पसंद बहुजन समाज पार्टी थी। लेकिन, मानना पड़ेगा कि संघ परिवार अनुसूचित जातियों के बीच लगातार अपनी ज़मीन बनाने का प्रयास कर रहा था। सत्तर और अस्सी में किये गये प्रयासों (जिनका ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है) से परे जाते हुए नब्बे के दशक में संघ परिवार ने अपनी राजनीति में अनुसूचित जातियों की भागीदारी सुनिश्चित करने के अधिक ठोस प्रयास करने शुरू किये।

1989 में विश्व हिंदू परिषद ने अयोध्या में प्रस्तावित राम मंदिर का शिलान्यास कामेश्वर चौपाल से कराया जो अनुसूचित जाति के थे। धीरे-धीरे संघ के प्रोत्साहन से 'हिंदू चर्मकार जाति', 'हिंदू वाल्मीकि जाति', और 'हिंदू खटीक जाति' के इतिहास को पेश करने वाला साहित्य रचा जाने लगा। बद्री नारायण ने अपनी एक रचना में विस्तार से दिखाया है कि किस तरह भाजपा ने अनुसूचित जातियों की सामुदायिक और स्थानीय स्मृतियों, लोकगाथाओं, प्रतीकों, मिथकों और वाचिक इतिहास के केंद्र में स्थित नायकों को हिंदू धर्म के संरक्षकों की तरह पेश करने की परियोजना चलायी।[92] इस इतिहास-लेखन के पीछे अनुसूचित जाति समाज को हिंदू समाज से अलग करके दिखाने वाले विमर्श की काट साफ़ दिखाई पड़ रही थी। ख़ास बात यह है कि अनुसूचित जातियों के बीच पहले से सक्रिय आम्बेडकरवादियों और ईसाई मिशनरियों के साथ प्रतियोगिता करने वाली इस ताक़त को तेज़ी के साथ सफलता प्राप्त हुई। विश्व हिंदू परिषद (विहिप) ने अपने कार्यकर्ताओं को हिदायत दी कि हर कार्यकर्ता कम से कम एक अनुसूचित जाति परिवार के साथ दोस्ती करके उसके साथ समरस हो जाए। इसी के साथ-साथ भाजपा ने बड़े पैमाने पर ग़ैर-जाटव अनुसूचित जाति नेताओं को अपनी ओर खींचने की मुहिम भी शुरू कर दी।

मनुस्मृति के कारागार में बंद मध्यमार्गी विमर्श

निबंध के इस हिस्से का पटाक्षेप करने से पहले मध्यमार्गी विमर्श द्वारा अपनी समझ बनाने की बौद्धिक शैली पर ग़ौर करना भी ज़रूरी है। इस जाँच की शुरुआत गंगाधरन की कृति से की जा सकती है। चूँकि उन्हें संघ के पुनरुत्थानवाद का रिश्ता बालगंगाधर तिलक के विचारों के साथ जोड़ना था, इसलिए उन्होंने अफ़ज़ल खान के शिवाजी द्वारा किये गये वध के समर्थन में तिलक के एक उद्धरण का इस्तेमाल कर डाला। जबकि असलियत यह थी कि टी.वी. पारवते द्वारा लिखित तिलक की जिस जीवनी से यह उद्धरण लिया गया था, उसमें जीवनी-लेखक ने इसका इस्तेमाल तिलक को इस आरोप से बचाने के लिए किया था। तिलक के मत्थे यह संदिग्ध उद्धरण अंग्रेज़ लेखक वैलेंटाइन शिरोल ने अपनी पुस्तक *द इण्डियन अनरेस्ट* में अनाम

[92] इस तरह के इतिहास-लेखन का एक नमूना भाजपा के अनुसूचित जाति नेता विजय सोनकर शास्त्री की तीन पुस्तकों के सितम्बर, 2014 में लोकार्पण के तौर पर देखा जा सकता है. इनकी भूमिकाएँ सुरेश सोनी, कृष्ण गोपाल और सुरेश सोनी जैसे संघ के वरिष्ठ पदाधिकारियों द्वारा लिखी गयी हैं. राजग में रामविलास पासवान और भाजपा में उदित राज जैसे ग़ैर-जाटव नेताओं के आने का अनुसूचित जाति समाज में संदेश यह गया कि संख्याबल में कहीं कमज़ोर अनुसूचित जातियों के पास जाटव-प्रभुत्व वाली बहुजन समाज पार्टी के अलावा भी एक बड़ा राजनीतिक मुक़ाम है. देखें, बद्री नारायण (2009).

स्रोत के हवाले से मढ़ा था। पारवते ने इसका इस्तेमाल इसलिए किया कि वे इसका खण्डन कर सकें, और दो पृष्ठों के बाद ग़लतफ़हमी ख़त्म करने के लिए इसी विषय पर तिलक के सही उद्धरण का उल्लेख भी किया। लेकिन, गंगाधरन ने अंग्रेज़ लेखक के अनाम स्रोत वाले उद्धरण का इस्तेमाल पसंद किया, क्योंकि वह उनकी पहले से बनाई गयी थियरी में फ़िट हो रहा था। इससे पहले गंगाधरन मौलाना मुहम्मद अली द्वारा तिलक के विचारों की आलोचना का उद्धरण भी पेश करते हैं, लेकिन इस तथ्य को सुविधापूर्वक नज़रअंदाज़ कर जाते हैं कि मौलाना मुहम्मद अली ने बाद में तिलक बारे में अपनी यह धारणा वापिस ले ली थी, और उनकी देशभक्ति की त्रुटिपूर्ण व्याख्या करने के लिए खेद तक व्यक्त किया था।

गंगाधरन ने संघ के पुनरुत्थानवाद को 'चितपावन ब्रांड' का भी क़रार दिया। (यह जानना दिलचस्प होगा कि जी.पी. देशपाण्डे के अनुसार संघ का कोई भी सरसंघचालक चितपावन ब्राह्मण नहीं था। हेडगेवार तेलुगु ब्राह्मण थे और गोलवलकर और देवरस खरड़ ब्राह्मण थे, राजेंद्र सिंह क्षत्रिय थे, सुदर्शन संकेती ब्राह्मण थे और भागवत दैवैंद्र ब्राह्मण हैं)। इस हक़ीक़त की परवाह किये बिना गंगाधरन ने चितपावन ब्राह्मणों को पैदाइशी प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिया, बावजूद इस तथ्य के कि महाराष्ट्र के साम्यवादी और समाजवादी आंदोलन के नेतृत्व में भी कई चितपावन ब्राह्मण रहे हैं। गंगाधरन की थीसिस का बुनियादी विरोधाभास उस समय उजागर हो जाता है जब वे दावा करते हैं कि पश्चिमी भारत में अपना उद्गम होने के कारण चितपावन ब्राह्मण उस हिंदुस्तान से ताल्लुक़ नहीं रखते जो भारत का मर्म है, और इसीलिए उन्हें हिंदू विश्व-दृष्टि का प्रवक्ता बनने का कोई अधिकार नहीं है। यह कह कर वे एक तरह से संघ की उसी थीसिस का समर्थन कर देते हैं जो भारत को अपनी पुण्य-भूमि न मानने वाले धर्मों को भारत की सच्ची नुमाइंदगी के अधिकार से वंचित करती है।

गंगाधरन द्वारा डाली गयी परम्परा पर चलते हुए संघ के विचार को आद्योपांत *मनुस्मृति* की संतान बताने की ज़िद पूरी करने के लिए इस विमर्श के कुछ (सभी नहीं) पैरोकारों द्वारा खाई गयीं बौद्धिक कलाबाज़ियाँ और भी चौंका देने वाली हैं।[93] मसलन, गोलवलकर और संघ के अन्य लेखक जिस विराट पुरुष से वर्णाश्रम आधारित समाज-व्यवस्था की पैदाइश दिखाते हैं, उसके लिए *ऋग्वेद* के पुरुषसूक्त का हवाला दिया गया है और उद्धरण भी उसी श्लोक का है। दिलचस्प यह है कि संघ विरोधी साहित्य में इस वास्ते कहीं भी *ऋग्वेद* की आलोचना नहीं मिलती। वर्णाश्रम के लिए ज़िम्मेदार *मनुस्मृति* को ठहराया जाता है। हम जानते हैं कि पाँच हज़ार साल पुराना ऋग्वेद और बाईस सौ साल पुराना यह स्मृति-ग्रंथ एक-दूसरे का पर्याय नहीं हैं। *ऋग्वेद* की कल्पनाशीलता में वर्णों की पदानुक्रमता नहीं ढूँढ़ी जा सकती, और वहाँ कोई दण्ड-विधान तो है ही नहीं। ज़ाहिर है कि संघ विरोधी विमर्श को *ऋग्वेद* की आलोचना करने में काफ़ी दिमाग़ खपाना पड़ सकता था। ऊपर से मुश्किल यह भी है कि कुछ मार्क्सवादियों तक ने ऋग्वेद की यह कह कर प्रशंसा कर रखी है कि वह ब्राह्मणों की नहीं बल्कि शिल्पी वर्ग की रचना है; जबकि बौद्ध हंता पुष्यमित्र शुंग के काल में लिखवाई गयी *मनुस्मृति* एक आसान निशाना है और उसकी आलोचना आम्बेडकर की मेहरबानी से संघ के आलोचकों को तैयारशुदा उपलब्ध है।

दूसरे, इन पैरोकारों को इस कथन का हवाला देना बहुत पसंद है : '*मनुस्मृति* वह पवित्र पुस्तक है, जो वेदों के बाद हमारे हिंदू राष्ट्र में सर्वाधिक पूजनीय है और जो प्राचीन काल से ही हमारे सांस्कृतिक रीति-रिवाजों, हमारे विचारों तथा कर्मों का आधार बन गयी। सदियों से इस पुस्तक ने हमारे राष्ट्र के आध्यात्मिक और दैवी पथ के लिए दिशा-निर्देश निर्मित किये हैं। आज भी करोड़ों हिंदू अपने जीवन और क्रियाकलाप में जिन नियमों का पालन करते हैं, वे *मनुस्मृति* पर ही आधारित हैं।

---

[93] ऐसा लगता है कि संघ पर उपलब्ध आलोचनात्मक साहित्य को दो भागों में बाँट कर देखना होगा. पहले हिस्से में उन लेखकों को रखना होगा जो संघ की राजनीति के गम्भीर अध्येता हैं, जैसे क्रिस्तॉफ़ जैफ्रेलो, थॉमस ब्लूम हेंसन, जॉन ज़ॉवोस, वाल्टर एंडरसन, श्रीधर दामल, ऐजाज़ अहमद आदि. इन विद्वानों ने अपने विमर्श में संघ को *मनुस्मृति* के डण्डे से पीटने की कोशिश नहीं की है. एक तरह से इनकी रचनाओं में इस पहलू का ज़िक्र ही नहीं है. दूसरे हिस्से में एक्टिविस्ट-लेखक आते हैं, जैसे शम्सुल इस्लाम, ओ.पी. जायसवाल और सुभाष गाताडे इत्यादि. इन लोगों का ज़ोर यही दिखाने पर है कि संघ जिस भारत की रचना करना चाहता है वह मनु के प्रावधानों के मुताबिक़ ही होगा.

आज *मनुस्मृति* ही हिंदू क़ानून है। यह बुनियादी बात है।' संघ की आलोचना करने वाली कई रचनाओं में यह कथन उद्‌धृत मिलता है। यह किसका कथन है? एक ऐसा लेख, जिसमें दावा किया गया है कि उसके सभी उद्धरण गोलवलकर की दोनों रचनाओं (*बंच ऑफ़ थॉट्स* और *वी ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइंड*) से लिए गये हैं, इस कथन का श्रेय सावरकर और गोलवलकर दोनों को देता है (पता नहीं, एक कथन दो व्यक्तियों का कैसे हो सकता है?)। जो भी हो, संघ का पर्दाफ़ाश करने का दावा करने वाली कुछ अन्य रचनाओं में यह सावरकर के कथन की तरह प्रकट होता है। पाद टिप्पणी देखने पर पता लगता है कि इसे *सावरकर समग्र* के दूसरे खण्ड में संकलित लेख 'मनुस्मृति में महिलाएँ' शीर्षक लेख से लिया गया है।

असलियत यह है कि यह कथन गोलवलकर का नहीं है, और न ही उन्होंने इसका कहीं हवाला दिया है। सावरकर ने भी इसे *मनुस्मृति* की संस्तुति के उद्देश्य से नहीं लिखा था। 1933 में सावरकर ने गणेशोत्सव और नवरात्रि के दौरान नौ दिन तक इस स्मृति-ग्रंथ पर व्याख्यान दिये थे जो एक चार खण्डीय लम्बे लेख की तरह उनके समग्र के चौथे खण्ड में संकलित हैं। ऊपर उद्‌धृत पंक्तियों से ही यह लेख शुरू होता है, और अगर इन्हें पूरी रचना से काट कर अलग से पढ़ा जाए (जैसा कि हिंदुत्व के आलोचकों का मक़सद भी है) तो सावरकर *मनुस्मृति* के समर्थक की तरह उभरते हैं। मुझे तो लगता है कि इन आलोचकों ने लेख पढ़ने की जहमत ही नहीं उठाई है। अगर पढ़ा होता तो उन्हें आसानी से दिख जाता कि सावरकर ने अपनी विशिष्ट विवादात्मक (पॉलिमिकल) शैली में चालीस से ज़्यादा पृष्ठों में *मनुस्मृति* के श्लोक उद्‌धृत करके उनका मतलब बताते हुए इस ग्रंथ के विरोधाभासों और अंतर्विरोधों को न केवल रेखांकित किया है, बल्कि हिंदू समाज के लिए उसकी लगभग अनावश्यकता प्रमाणित कर दी है। सावरकर का मक़सद यह बताना था कि यह पुस्तक दैवी नहीं, बल्कि मानवरचित और ऐतिहासिक है। इसके नियम सर्वकालीन उपयोगिता (सावरकर इसके लिए त्रिकालबद्धता जैसा शब्द इस्तेमाल करते हैं) की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। आज के ज़माने में *मनुस्मृति* के मुताबिक़ जीवन गुज़ारना असम्भव है। अगर *मनुस्मृति* के कुछ अंश आज की समस्याओं के हल का रास्ता सुझाते हैं, तो भी उन्हें इसलिए नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए कि वे किसी प्राचीन ग्रंथ के निर्देश हैं और उनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। साथ में सावरकर ने यह भी कहा कि *मनुस्मृति* की हास्यास्पद और हानिकारक बातों को दरकिनार किया जाना चाहिए।

ख़ास बात यह है कि सावरकर सारी आलोचना करने के बावजूद *मनुस्मृति* के प्रति तिरस्कारपरक भाषा का इस्तेमाल नहीं करते। वे इस स्मृति-ग्रंथ की प्रशंसा से शुरू करते हैं, और मनु महाराज की स्तुति से लेख ख़त्म करते हैं। पर उनका निष्कर्ष है :

> जो शब्दनिष्ठ सनातनी यह मानते हैं कि मनु का प्रत्येक अक्षर सत्य ही है, वह स्मृति सुसंगत ही है, उन्हें उसके अंतर्गत सैकड़ों सम्पूर्ण अनेकानेक विरुद्ध श्लोकों का समन्वय लगाते समय नाकों दम आ गया और अंत में प्रत्येक आलोचक यद्यपि *मनुस्मृति* का श्लोक परिवर्तित नहीं करता, फिर भी उनका अर्थ घुमा कर एक-एक नयी *मनुस्मृति* लिखता है। यह कहते हुए कि *मनुस्मृति* में मांसाशन धर्मसम्मत है, ब्राह्मणों की कुछ जातियाँ मांस भक्षण करती हैं। कुछ लोग मांस भक्षण वर्ज्य, परंतु मछलियाँ खाना धर्मसम्मत, अतः मनु के नाम पर मछली खाते हैं। कुछ लोग मनु के नाम पर दोनों वर्ज्य समझ कर शाकाहारी भोजन करते हैं। इस प्राचीन परम्परा का आज भी निर्वाह करते हुए कोई मनु के नाम पर अनुलोम विवाह अधर्म समझा है तो कोई मनु के नाम पर आज भी प्रतिलोम विवाह 'शास्त्रोक्त' समझ कर वैश्य को ब्राह्मण कन्या देता है। इस तरह बेचारे मनु के प्रत्येक शब्द की खींचातानी हो कर आज भी *मनुस्मृति* के श्लोकों की एक ही पाण्डुलिपि होते हुए उसके अर्थ की पाँच सौ *मनुस्मृतियाँ* बनाई हैं।[94]

[94] देखें, *सावरकर समग्र* (2000), खण्ड 4 : 457-58.

यह उद्धरण दिखाता है कि सावरकर की शैली लम्बे-लम्बे वाक्यों वाली मराठी है जिसका हिंदी में अनुवाद किया गया है। यह भाषा संस्कृतनिष्ठ होगी ही, क्योंकि हिंदी के अलावा अन्य सभी भाषाएँ कहीं अधिक संस्कृतनिष्ठ हैं। संघ के आलोचकों में ज़्यादातर अंग्रेज़ीदाँ हैं जो इस तरह की भाषा में अंतर्निहित कटाक्ष इत्यादि पर दिमाग़ खपाना पसंद नहीं करेंगे। ऊपर हम देख चुके हैं कि ऐजाज़ अहमद जैसे बुद्धिजीवी तो यहाँ तक कहते हैं कि संघ परिवार के विवेकहीन दस्तावेज़ों में शब्द भूसे की तरह भरे हुए हैं। शायद इसीलिए हिंदी में छपे संघ-विरोधी साहित्य में भी उक्त उद्धरण को मूल से न लेकर अंग्रेज़ी अनुवाद से अनुवाद कर लिया गया है। संघ के आलोचकों को यह भी समझना होगा कि उन नेताओं और सिद्धांतकारों का साहित्य कैसे पढ़ा जाए जो हिंदू-एकता के लक्ष्य के प्रति समर्पित हैं। ये लोग (सावरकर, गोलवलकर, देवरस, उपाध्याय आदि) धर्मशास्त्रों की निंदा नहीं कर सकते। वे उनकी आलोचना एक इनसाइडर की तरह करते हैं, जबकि हम वह आलोचना आउटसाइडर की तरह तिरस्कारपूर्ण और ख़ारिज करने वाली मुद्रा में करते हैं। इन दस्तावेज़ों में ही कहीं वह शिफ़्ट छिपा होता है जो हिंदुत्व की राजनीति को परम्परानिष्ठता से अपनी तरह की हिंदू छाप वाली आधुनिकता की तरफ़ ले जाता है। इन्हीं दस्तावेज़ों में बहुमत वाले लोकतंत्र को बहुसंख्यकवादी लोकतंत्र में बदलने का कौशल छिपा हुआ है। इन्हीं दस्तावेज़ों में वह कला है जो संविधान को अपना एकमात्र धर्मशास्त्र कहने वाले को उसके पीछे छिप कर हिंदू राष्ट्र बनाने का मौक़ा देती है।

लेकिन, संघ के ख़िलाफ़ लिखने वाले लेखक बार-बार सरलीकृत ढंग से दावा करते हैं कि संघ संविधान को हटा कर *मनुस्मृति* को उसकी जगह देना चाहता है। इसे साबित करने के लिए संघ के मुखपत्र *ऑर्गनाइज़र* (30 नवम्बर, 1949) में छपे एक सम्पादकीय का ख़ूब हवाला दिया जाता है। इस सम्पादकीय में कहा गया था : 'लेकिन हमारे संविधान में प्राचीन भारत के अनूठे संवैधानिक विकास का कोई ज़िक्र नहीं है। मनु के क़ानून स्पार्टा के लिकरगस या पर्शिया के सोलन से पहले लिखे गये हैं। *मनुस्मृति* में कहे गये क़ानून आज तक दुनिया भर में प्रशंसा का भाव जगाते हैं, स्वीकार करने को विवश करते हैं और लोग उस पर मुहर लगाते हैं। लेकिन हमारे संवैधानिक पण्डितों के लिए उसका कोई अर्थ नहीं है।' ज़ाहिर है कि ये पंक्तियाँ *मनुस्मृति* की प्रशंसा में लिखी गयी हैं, लेकिन इनमें उसे भारत का संविधान बनाने की माँग नहीं है। इनमें यह इच्छा ज़रूर निहित है कि संविधान बनाते समय *मनुस्मृति* की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए थी और इस पुराने विधान को नज़रअंदाज़ करना एक तरह से प्राचीन काल की एक 'बौद्धिक उपलब्धि' का विलोपीकरण है। संघ विरोधी लेखन में ऐसे न जाने कितने उदाहरण हैं जिनमें *ऑर्गनाइज़र* के सम्पादकीय को गोलवलकर के कथन की तरह पेश किया गया है, और दूसरे किसी लेख में एक वाक्य जोड़ कर अपने मन की बात बना ली गयी है।[95]

चूँकि इस लेखन को पढ़ने वाला पाठक वर्ग वामपंथी-उदारतावादी ख़ित्ते से ताल्लुक़ रखता है, इसलिए ऐसी मनगढ़ंत बातें आलोचना से बच जाती हैं। उन्हें घटिया रिसर्च के खाने में डालने के बजाय उनकी प्रशंसा होती है। *मनुस्मृति* की अनुशंसाओं का गोलवलकर द्वारा किया गया कोई भी समर्थन देख कर संघ विरोधी लेखकों की आँखें चमक जाती हैं। वे यह भी नहीं देखते कि दरअसल वह अनुशंसा क्या है और उसे संघ विरोधी विमर्श में इस्तेमाल करने से क्या उनकी स्थिति हास्यास्पद नहीं हो जाएगी। मसलन, *मनुस्मृति* में लिखा है : 'मांसाहार करना, शराब पीना या मैथुन करना पाप नहीं है। यह सब एक मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, लेकिन उसे हमेशा उनसे ऊपर उठने की आकांक्षा करनी चाहिए।' गोलवलकर इस कथन का हवाला देते हुए एक स्वयंसेवक को समझाते हैं कि शाकाहार ही करने का हमारे शास्त्रों में कोई नियम नहीं है। संघ

---

[95] जैसे, भारत को उसके सुनहरे अतीत की ओर ले जाने के आग्रह के तहत *ऑर्गनाइज़र* (26 जनवरी, 1962) में यह वाक्य छपा, 'हम वास्तव में राष्ट्र को और पीछे ले जाना चाहते हैं, एक हज़ार साल पीछे.' ओ.पी. जायसवाल इस कथन को गोलवलकर के कथन की तरह पेश करते हुए इसमें एक मनचाहा वाक्य जोड़ देते हैं, 'हम वास्तव में राष्ट्र को एक हज़ार साल पीछे ले जाना चाहते हैं. जिससे कि *मनुस्मृति* ही हमारा संविधान बने.' देखें, जायसवाल (2017), वही.

विरोधी विमर्श हास्यास्पद ढंग से इस कथन को भी गोलवलकर की भर्त्सना करने के तर्क की तरह इस्तेमाल करने की कोशिश करता है।

हाल ही में मध्यमार्गी विमर्श ने इस तरह की धारणा पुष्ट करने की कोशिश की है कि संघ और भाजपा को मौक़ा मिला तो वे आरक्षण को ख़त्म करवा देंगे। क्या यह आग्रह किसी तथ्य पर आधारित है? बिहार चुनाव के दौरान सरसंघचालक मोहन भागवत ने आरक्षण के प्रश्न पर पुनर्विचार करने की अपील की। इसके बाद भी संघ के कुछ पदाधिकारी एकाधिक बार इस तरह का आह्वान करते नज़र आये। चुनाव में भाजपा का मुक़ाबला कर रहे दलों ने इस वक्तव्य को यह कह कर उछाला कि संघ और भाजपा मौक़ा मिलने पर अनुसूचित जातियों और पिछड़ों से आरक्षण छीन लेंगे। दरअसल, वस्तुस्थिति यह नहीं थी। आरक्षण पर भाजपा और संघ के पिछले पैंतीस-चालीस साल के रिकॉर्ड को खँगालने पर भी आरक्षण समाप्त करने की कोई माँग नहीं दिखती। जो पार्टी अपना राजनीतिक भविष्य अनुसूचित जातियों और पिछड़ों के समर्थन पर आधारित मानती है, वह भला आरक्षण का विरोध क्यों करेगी? हाँ, आरक्षण के कारण पैदा होने वाले जातिगत टकरावों पर संघ की चिंताएँ अवश्य दिखती हैं। यह माँग भी दिखती है कि आरक्षण नीति की समीक्षा होनी चाहिए, और यह आग्रह भी दिखता है कि आरक्षण किसी भी समुदाय को हमेशा-हमेशा के लिए नहीं दिया जा सकता। इसका एक मतलब यह भी निकाला जा सकता है कि संघ कहीं न कहीं आरक्षण के ज़रिये समृद्ध और शक्तिमान हो चुके समुदायों, व्यक्तियों और परिवारों के लिए एग्ज़िट पॉलिसी बनाने के लिए दबाव तैयार कर रहा है। संघ ने इस तरह की माँग और रवैये का प्रदर्शन भाजपा को चुनावी नुक़सान होने की हद तक प्रदर्शित किया है। (ऐसे वक्तव्यों से भाजपा को बिहार चुनाव में नुक़सान हो चुका है।) प्रश्न यह है कि क्या यह रवैया निंदनीय हो सकता है? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या मध्यमार्गी विमर्श ने यह आग्रह पार्टियों द्वारा एक-दूसरे के वक्तव्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश करने के राजनीतिक हथकण्डे से प्राप्त कर लिया है? अगर ऐसा है तो मध्यमार्गी विमर्श को यह देखना पड़ेगा कि कहीं सामाजिक न्याय की राजनीति के संदर्भ में वह आरक्षण के अंध समर्थन की 'पॉलिटिकल करेक्टनेस' का शिकार तो नहीं हो गया है? क्या आरक्षण नीति का बुनियादी तौर पर समर्थन करते हुए उसमें आ गयी विकृतियों को दूर करने के लिए उसकी समीक्षा करने का दबाव बनाने का कर्तव्य पूरा करने में उसे संघ परिवार से होड़ नहीं करनी चाहिए।

संघ को फ़ासीवादी बताना भी एक लोकप्रिय फ़िक़रा है। साथ ही यह भी ख़ूब कहा जाता है कि वह हिंदू समाज का सामीकरण करना चाहता है। युरोपियन इतिहास के आईने में दुनिया को देखने के शौक़ीन बुद्धिजीवियों का एक ख़ास शग़ल हर देश और समाज में फ़ासीवाद की तलाश करना है। ऐसे लोग मान कर चलते हैं कि 'हर देश को उसकी हैसियत के मुताबिक़ फ़ासिज़्म मिल ही जाता है', क्योंकि राष्ट्रत्व की धार्मिक-सांस्कृतिक परिभाषा उसी तरह काम करती है जिस तरह नस्ल की नाज़ी विचारधारा। लेकिन, उस समय थोड़ा ताज्जुब होता है जब यही विमर्श विरोधाभासी ढंग से हमें यह समझाने की कोशिश करता है कि संघ की स्थापना 1925 में उस ग्राम्शियन उसूल के आधार पर हुई थी जिसके मुताबिक़ स्थायी क़िस्म की राजनीतिक सत्ता पहले से किये जा चुके सांस्कृतिक रूपांतरण और सहमति बनाने के आधार पर ही खड़ी की जा सकती है। इसके लिए नीचे से कोशिश करनी होगी और लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया से गुज़रना होगा।[96] यह समझना मुश्किल है कि अगर संघ का यही बुनियादी उसूल है तो यह नाज़ी विचारधारा में कैसे फ़िट हो सकता है। जो भी हो, कम से कम इस बात पर तो कोई विवाद नहीं होगा कि संघ के संस्थापकों को यह 'ग्राम्शियन उसूल' नहीं पता था। अगर ऐसा था तो फिर उन्होंने इस उसूल से मिलती-जुलती प्रज्ञा कहाँ से हासिल की? यह विचार न तो इतालवी या जर्मन फ़ासीवाद में मिलता है, और न ही बीस के दशक के मार्क्सवाद ने इसका प्रतिपादन किया था। क्या जिस प्राचीन हिंदू दर्शन से संघ अपनी प्रेरणाएँ ग्रहण कर रहा था (जैसे, अद्वैत वेदांत), क्या इस विचार का स्रोत उनके भीतर ही था?[97]

---

[96] देखें, ऐजाज़ अहमद (2015), वही. वे कहते हैं, 'एवरी कंट्री गेट्स फ़ासिज़म इट डिज़र्व्स'.

[97] संघ की वैचारिक प्रेरणाओं पर अद्वैत वेदांत के असर के लिए देखें, एंडरसन और दामले (2005), वही.

यहाँ संघ के तथाकथित फ़ासीवादी चरित्र पर मार्क्सवाद और उसके हमजोली बुद्धिजीवियों के बीच हुई बहस का अलग से ज़िक्र करना भी ज़रूरी है, क्योंकि इसके भीतर विमर्श के स्तर पर ख़ासी बारीक कताइयाँ हुई हैं। इनका एक हिस्सा संघ को निर्विवाद रूप से फ़ासीवादी मानता है। इन लोगों के लिए संघ की आलोचना की यही बुनियादी शर्त है। अगर कोई संघ का आलोचक उसे फ़ासीवादी मानने में संकोच करता है तो ये लोग उसकी आलोचना को अधूरा मानते हैं, और इसलिए उस पर कटाक्ष करने से नहीं चूकते।[98] दूसरा हिस्सा फ़ासीवादी प्रतिमान को समस्याग्रस्त मानते हुए कहता है कि हिंदुत्व युरोपीय फ़ासीवाद से बिल्कुल अलग तरह की परिघटना है। दिलचस्प बात यह है कि संघ को फ़ासीवादी कहने से बचने के बावजूद यह हिस्सा भी उसकी आलोचना में 'प्रोटो-फ़ासिस्ट' जैसे फ़िक़रों का इस्तेमाल करने में परहेज़ नहीं करता।[99]

बहरहाल, संघ को फ़ासीवादी कहने वालों की संख्या कम न होने के बावजूद यह मानना होगा कि मध्यमार्गी विमर्श के कुछ प्रतिभाशाली हस्ताक्षरों ने संघ को फ़ासीवादी मानने के ख़िलाफ़ सुचिंतित और सुव्याख्यायित चेतावनियाँ दी हैं। ये चेतावनियाँ सवाल करती हैं कि क्या हमें संघ के एकचालकानुवर्तित्व और फ़ासीवाद द्वारा एक नेता में 'नैशनल विल' को मूर्तिमान करने के बीच अंतर करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए? इसी तरह शायद हमें यह भी देखना चाहिए कि क्या एक नेता में सारी सत्ता निहित कर देने वाले फ़ासीवाद के मुक़ाबले संघ राजनीतिक नेतृत्व की सर्वोच्चता और अपरिहार्यता को कुछ-कुछ संदेह की निगाह से देखता है, इसलिए वह उस पर 'संवैधानिक' संतों के माध्यम से संयमित करने और वैधता प्राप्त करने की शर्त लगाता है? संघ के साहित्य में तो यह कल्पना दर्ज नहीं है कि जिस दिन धर्म मानवीय व्यवहार का सर्वस्वीकृत मानक बन जाएगा, उस दिन राजनीतिक सत्ता तिरोहित हो जाएगी? क्या ये चेतावनियाँ हमें यह अंतर करने की प्रेरणा नहीं देतीं कि गोलवलकर 'नस्ल' और राष्ट्र के जिस समीकरण का आग्रह करते हैं वह जैविक दावेदारियों पर आधारित नस्ली शुद्धता है या वह दरअसल सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभुत्व का ही एक नाम है जिसे सरसंघचालक ने जर्मन सिद्धांतकारों से प्रभावित होने के कारण नस्ल का नाम दे दिया होगा?[100]

मध्यमार्गी विमर्श को संघ पर यह आरोप लगाना भी प्रिय है कि वह हिंदुओं का सामीकरण (सेमेटाइज़ेशन) करना चाहता है। मुश्किल यह है कि आरोप लगाने वाले नहीं जानते कि यह इलज़ाम दुधारी तलवार की तरह है। अगर वे सिर्फ़ यह कहना चाहते हैं कि हिंदू धर्म भी अहले-किताब (सिख पहले से अहले-किताब हैं) होने की तरफ़ बढ़ रहा है, और उसमें संघबद्धता (बौद्ध पहले से संघबद्ध हैं) की प्रवृत्तियाँ पैदा हो रही हैं, तो इसे हिंदुओं के धार्मिक ढाँचे में आये परिवर्तन की तरह तो देखा जा सकता है, पर इसमें कोई दुष्टता कैसे देखी जा सकती है? क्या धार्मिक तौर पर हिंदुओं को स्थावर ही रहना चाहिए? क्या सेमेटिक होना अपने आप में कोई बुरी बात है? क्या भारत में पहले से मौजूद इस्लाम, ईसाईयत और यहूदी धर्म सेमेटिक होने के कारण बुरे या कमतर हैं? वैसे भी ये आलोचक हिंदुओं के सामीकरण के ऐसे कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं कराते जिन पर यक़ीन किया जा सके। ध्यान देने योग्य बात यह है कि संघ सामी धर्मों की तरह किसी भी धर्मशास्त्र को 'होली बुक' का दर्जा नहीं

---

[98] इस तरह की मार्क्सवादी प्रवृत्ति के लिए देखें, सुमित सरकार (1993) की रचना अभय कुमार दुबे (सं.) में : 87-99; संघ को फ़ासिस्ट न बताने वाले आलोचकों पर की जाने वाली टीका-टिप्पणी की एक मिसाल के लिए देखें प्रलय क़ानूनगो (2002) की रचना की कुलदीप कुमार (2002) द्वारा *सेमिनार 513* में की गयी समीक्षा. इसमें समीक्षक को यह अजीब लगता है कि जब क़ानूनगो ने संघ को सर्वसत्तावादी (टोटेलिटेरियन) साबित कर दिया है तो फिर उसे फ़ासीवादी कहने में संकोच कैसा. यह सही है कि मुसोलिनी ने फ़ासीवादी राज्य को बार-बार टोटेलिटेरियन बताया है, लेकिन बाद में युरोपीय टोटेलिटेरियनिज़म के कई रूप उभरे और वे सभी फ़ासीवादी नहीं थे. क़ानूनगो भी सम्भवत: यही मानते हैं कि संघ का सर्वसत्तावाद फ़ासीवादी सर्वसत्तावाद का पर्याय नहीं है.

[99] इस मार्क्सवादी प्रवृत्ति की दो बेहतरीन मिसालों के लिए देखें, अचिन वनाइक (1994) : 1729-1748; और आदित्य निगम (2017).

[100] देखें, पार्थ चटर्जी (2005) की रचना अभय कुमार दुबे (सं) (2005) में; और ऐंडरसन और दामले (2005), वही. संघ पर फ़ासीवादी होने के आरोपों की एक विस्तृत और आँखें खोल देने वाली जाँच ए. जेम्स ग्रेगर (2006) (देखें, इसका आठवाँ अध्याय 'हिंदुत्व : अ केस फ़ॉर सेफ़्रॅन फ़ासिज़म' : 197-227) में की गयी है. गोलवलकर के विचारों और युरोपीय फ़ासीवाद व नाज़ीवाद के बीच विस्तृत तुलनात्मक टिप्पणी के लिए देखें, क्रिस्टॉफ जैफ्रेलो (1999), 'द आरएसएस : अ हिंदू नैशनलिस्ट सेक्ट', द *हिंदू नैशनलिस्ट मूवमेंट ऐंड इंडियन पॉलिटिक्स,* पेंगुइन, नयी दिल्ली का पहला अध्याय.

देता। 1933 में सावरकर द्वारा की गयी व्याख्या को अपनाते हुए वह धर्मशास्त्रों को मानव-रचित मानता है, और बदले हुए समय के मुताबिक़ उनमें संशोधन तक प्रस्तावित करने के लिए तैयार है। इसका एक प्रमाण 2017 में मिला जब संघ परिवार की संस्था संस्कार भारती ने अपने भीतर *मनुस्मृति* को संशोधित करने के लिए बहस की शुरुआत की। यह संगठन चाहता है कि इस स्मृति-ग्रंथ से उसके अनुसूचित जाति-विरोधी और स्त्री-विरोधी आयामों को निकाल दिया जाए।[101] हिंदू धर्म के सामीकरण की सबसे बड़ी कोशिश स्वामी दयानंद सरस्वती ने की थी। उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की, वेदों को अपौरुषेय घोषित करके 'होली बुक' का दर्जा दिया, और इस प्रकार हिंदुओं को वेद आधारित बना कर एहले-क़िताब पंथ के साँचे में ढालना चाहा। संघ ने भी हिंदुओं को संगठित करने की आर्य समाजी कोशिशों का लाभ तो उठाया, लेकिन न तो उसने वेदों को होली बुक माना, और न ही दयानंद की तरह जातिप्रथा और मूर्तिपूजा को ख़ारिज करने के आंदोलनकारी वेग में बहना स्वीकार किया। दयानंद सनानत धर्म की धज्जियाँ उड़ाते थे, पर संघ ने अपना स्वर मुख्य रूप से सनातनी बनाए रखा। वस्तुत: संघ एक ऐसा संगठन है जिसमें हिंदुओं की विभिन्न धाराओं को उनकी राष्ट्रवादी परियोजना के इर्द-गिर्द गोलबंद होते हुए देखा जा सकता है। उसने अपने साथ आर्य समाजियों, हिंदू महासभाइयों, सिखों और जैनों को भी जोड़ने में सफलता प्राप्त की है।

इसके अलावा हमें ध्यान रखना होगा कि हिंदुओं को अधिकाधिक धर्मशास्त्रीय रूप देने, उसमें व्याप्त 'लिव्ड रिलीजन' वाले पहलुओं के ऊपर 'श्रेष्ठ शास्त्रोक्त परम्परा' का आधिपत्य स्थापित करने, हिंदूपन के मानकों को कुछ चिह्नों और कुछ कर्मकाण्डीय आग्रहों में सीमित कर देने, हिंदुओं की धार्मिक संस्कृति की क्षेत्रीय अभिव्यक्तियों (जैसे गणेश चतुर्थी और दुर्गा पूजा) का दूर-दराज के अन्य क्षेत्रों में भी फैलते चले जाना, लोकप्रिय धार्मिकता (जैसे काँवड़) का दिन-दूने रात चौगुने वेग से प्रसार होने के पीछे सत्रहवीं सदी के आख़िरी वर्षों से ही चल रही उन प्रक्रियाओं की भूमिका कहीं ज़्यादा है जिनकी शुरुआत भारत की धरती पर उपनिवेशवादियों के क़दम पड़ने से हुई थी। आगे चल कर न केवल अप्रत्यक्ष क़िस्म के औपनिवेशिक शासन द्वारा लागू किये गये प्रतिनिधित्व के उसूल ने हिंदूपन के संस्थाबद्ध एहसास को और घनीभूत किया, बल्कि भारतीय संविधान ने अपने विभिन्न प्रावधानों के तहत जिस तरह से भारत में आबादियों का विन्यास किया, उससे भी बहुलतावाद की प्रवृत्तियों को कम और समरूपीकरण की प्रवृत्तियों को अधिक बल मिला। जो काम कल औपनिवेशिक आधुनिकता ने अपने राजनीतिक स्वार्थों के चलते किया था, और जो काम भारतीय संविधान ने बेख़्याली में कर दिया, भूमण्डलीय आधुनिकता के हाथों आज वही काम बाज़ार के स्वार्थ में व्यवस्थित ढंग से हो रहा है, और हम सभी लोग अपनी-अपनी आपत्तियों के बावजूद उसमें भाग ले रहे हैं।

संघ परिवार द्वारा द्विज जातियों से जुड़े रह कर भी उनके परे जाते हुए शेष हिंदू समाज से अपने संबंध सुधारने के ऊपर दिये गये इस ब्योरे में कोई नयी बात नहीं है। ये सभी बातें किसी न किसी रूप में लिखी-पढ़ी जा चुकी हैं। मध्यमार्गी विमर्श ने इस समकालीन इतिहास के साथ तीन तरह का रवैया अपनाया है : पहला, वह इनमें से कुछ ऐसे पहलुओं को विशेष प्रमुखता देने का आग्रह करता है जो स्वयं संघ परिवार के लिए अब केवल सुभाषित की तरह रह गयी हैं। पिछली आधी सदी से मध्यमार्गी विमर्श के अधिकतर स्वर *मनुस्मृति,* ब्राह्मणवाद, वर्णवाद, फ़ासीवाद और सामीकरण जैसी निर्मितियों में उलझे रहे हैं। इसी के साथ यह विमर्श कुछ ऐसे पहलुओं का महत्त्व समझने से लगातार इंकार करता रहा जो संघ परिवार की परियोजना में पिछले चालीस साल से वास्तविक महत्त्व प्राप्त किये हुए हैं। ज़ाहिर है कि संघ तो *मनुस्मृति* के कारागार से बाहर निकल आया है, पर संघ विरोधी विमर्श ने ख़ुद को वहाँ क़ैद कर दिया है। दूसरा, मध्यमार्गी विमर्श के पैरोकारों में संघ परिवार की वैचारिक और कार्यक्रमगत दावेदारियों के प्रति गहरा तिरस्कार भाव है। वे मानकीय और तथ्यगत स्तर पर इसे

[101] देखें, *द इंडियन एक्सप्रेस,* 14 मई, 2017 के दिल्ली संस्करण में प्रकाशित प्रज्ञा कौशिका की ख़बर. यह ख़बर कोई सप्ताह भर पहले नवभारत टाइम्स, दिल्ली में भी छपी थी.

स्तरहीन तिकड़म, छल और पश्चिमी राष्ट्रवाद के सबसे घटिया रूपों का भारतीय संस्करण मानते हैं। एक तरह से यह रवैया समझा जा सकता है क्योंकि कोई भी विमर्श अपने प्रभुत्व और वर्चस्व को न्यायसंगत नहीं ठहरा सकता जब तक उसमें आत्म-श्रेष्ठता का भाव न हो। लेकिन, प्रश्न यह है कि क्या मध्यमार्गी विमर्श के इस श्रेष्ठता-भाव को आँखों पर पड़ा परदा बनने दिया जा सकता है ?

(यह लेख अभय कुमार दुबे की वाणी प्रकाशन द्वारा शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक *हिंदू एकता बनाम ज्ञान की राजनीति* से लिया गया है)

संदर्भ

16 सितम्बर, 1990 का *ऑर्गनाइज़र,* खण्ड 42, अंक 6.

अचिन वनाइक (1994), 'सिचुएटिंग थ्रेट ऑफ़ हिंदू नैशनलिज़म : प्रॉब्लम्ज़ विद फ़ासिस्ट पैराडाइम', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 29, अंक 28.

अनिल के. वर्मा (2007), 'बैकवर्ड क्लास पॉलिटिक्स इन उत्तर प्रदेश : एन एनालैसिस ऑफ़ द समाजवादी पार्टी', सुधा पै (सं.), *पॉलिटिकल प्रॉसेस इन उत्तर प्रदेश : आइडेंटिटी, इकॉनॉमिक रिफ़ॉर्म्स ऐंड गवर्नेंस,* पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली.

अभय कुमार दुबे (2007), 'अ केस ऑफ़ मैजोरिटेरियनिज़म अनपैक्ड : द ट्रायल्स ऐंड ट्रिब्युलेशन ऑफ़ भारतीय जनता पार्टी इन उत्तर प्रदेश', सुधा पै (सं.), *पॉलिटिकल प्रॉसेस इन उत्तर प्रदेश : आइडेंटिटी, इकॉनॉमिक रिफ़ॉर्म्स ऐंड गवर्नेंस,* पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली.

अरविंदन नीलकंदन (2015), 'वेलकमिंग द संघ परिवार्स दलित एजेंडा', file:///D:/up%20elections/Welcoming%20The%20Sangh%20Parivar's%20Dalit%20 Agenda.htmlपर उपलब्ध,18 अप्रैल को देखा गया.

अरविंद शर्मा (2002), 'ऑन हिंदू, हिंदुस्तान, हिंदुइज़म ऐंड हिंदुत्व', *नुमेन,* खण्ड 49, अंक 1.

अरुण कुमार त्रिपाठी (1997), *कल्याण सिंह : एक राजनीतिक अध्ययन,* 'आज के नेता : राजनीति के नये उद्यमी' शृंखला (सं. अभय कुमार दुबे), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

आदित्य निगम (2017), 'द लेफ़्ट नॉन-डिबेट ऑन फ़ासिज़म ऑर हाउ नॉट टू फ़ाइट द हिंदू राइट',https://kafila.online/2016/09/21/the-left-non-debate-on-fascism-or-how-not-to-fight-the-hindu-right/ पर उपलब्ध, 23 मई को देखा गया.

आनंद तेलतुम्बड़े (सं.), *हिंदुत्व ऐंड दलित्ज़ : पर्सपेक्टिव्ज़ फ़ॉर अंडरस्टेंडिंग कम्युनल प्रैक्सिज़,* साम्य, कोलकाता.

आर.बी. भगत (2001), 'सेंसस ऐंड द कंस्ट्रक्शन ऑफ़ कम्युनलिज़म इन इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 36, अंक 46/47.

आर.बी. लालचंद (1938), 'सेल्फ़-एब्नेगेशन इन पॉलिटिक्स', राकेश सिन्हा (सं.) (2017), *इज़ हिंदू अ डाइंग रेस : अ सोशल ऐंड पॉलिटिकल पर्सपेक्टिव ऑफ़ हिंदू रिफ़ॉर्मर्स इन अर्ली ट्वेंटियथ सेंचुरी,* कौटिल्य प्रकाशन, नयी दिल्ली.

आर. श्रीनिवासन (1971), 'प्रॉस्पेक्ट्स फ़ॉर इंडियन पॉलिटिकल साइंस : रिसर्च फ़ॉर द सेविंटीज़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 7, अंक 2.

ओ.पी. जायसवाल (2017), 'आ अब लौट चलें : मनु की ओर स्मृति की छाया में', *प्रगतिशील वसुधा,* मार्च.

इम्तियाज़ अहमद (1971), 'रिलीजन ऐंड पॉलिटिक्स : अ कमेंट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 7, अंक 2.

एल.पी. विद्यार्थी और बी.एल. राय (1977), *द ट्रायबल कल्चर इन इण्डिया,* कंसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नयी दिल्ली; वेरियर एल्विन (1944), द *एबोरिजिनिल्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, मुम्बई.

एंजिला सदरलैंड बर्जर (1969), *अपोज़ीशन इन अ डोमिनेंट पार्टी सिस्टम : अ स्टडी ऑफ़ द जनसंघ, द प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ऐंड द सोशलिस्ट पार्टी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

कर्नल उपेंद्र नाथ मुखर्जी (1912), 'अ डाइंग रेस', राकेश सिन्हा (सं.) (2017), *इज़ हिंदू अ डाइंग रेस : अ सोशल ऐंड पॉलिटिकल पर्सपेक्टिव ऑफ़ हिंदू रिफ़ॉर्मर्स इन अर्ली ट्वेंटियथ सेंचुरी,* कौटिल्य प्रकाशन, नयी दिल्ली.

क्रिस्तॉफ़ जैफ्रेलो (1993), 'हिंदू नैशनलिज़म : स्ट्रैटेजिक सिंक्रेटिज़म इन आइडियोलॅजी बिल्डिंग', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 28, अंक 12/13.

.....................(1999), 'द आरएसएस : अ हिंदू नैशनलिस्ट सेक्ट', *द हिंदू नैशनलिस्ट मूवमेंट ऐंड इंडियन पॉलिटिक्स,* पेंगुइन.

.....................(2005),'हिंदू नैशनलिज़म ऐंड सोशल वेलफ़ेयर स्ट्रैट्जी : सेवा भारती एज़ एन एजुकेशन एजेंसी', क्रिस्तॉफ़ जैफ्रेलो (सं.), *द संघ परिवार : अ रीडर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

किशन पटनायक (1995), *भारत शूद्रों का होगा!,* समता प्रकाशन, नयी दिल्ली.

के.के. गंगाधरन (1970), *सोसियोलॅजी ऑफ़ रिवाइवलिज़म : अ स्टडी ऑफ़ इंडियनाइज़ेशन, संस्कृताइज़ेशन ऐंड गोलवलकरिज़म,* कलमकार प्रकाशन, नयी दिल्ली.

के.एस. चलम (2005), 'हिंदुत्व ऐंड दलित्ज़ इन आंध्र प्रदेश', आनंद तेलतुम्बड़े (सं.), *हिंदुत्व ऐंड दलित्ज़ : पर्सपेक्टिव्ज़ फ़ॉर अंडरस्टेंडिंग कम्युनल प्रैक्सिज़,* साम्य, कोलकाता.

गोपाल गुरु (1991), 'हिंदुआइज़ेशन ऑफ़ आम्बेडकर इन महाराष्ट्र', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 26, अंक 7.

चारु गुप्ता (2004), 'सेंससेज़, कम्युनलिज़म, जेण्डर ऐंड आइडेंटिटी : अ हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 39, अंक 39.

चतुर्वेदी बद्रीनाथ (2017), 'दीनदयाल उपाध्यायज़ प्रेस्क्रिप्शन फ़ॉर इण्डिया वाज़ 'धर्म-राज्य', नॉट हिंदुत्व', द *वायर* में 25 सितम्बर.

जी.पी.डी. (2006), 'एन ऑकेज़न फ़ॉर द आरएसएस', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 41, अंक 12.

जॉन ज़ावोस (1999), 'द आर्य समाज ऐंड द एंटेसेडेंट्स ऑफ़ हिंदू नैशनलिज़म', *इंटरनैशनल जरनल ऑफ़ हिंदू स्टडीज़,* खण्ड 3, अंक 1.

टी.के. रामचंद्रन और पी.टी. जॉन (2005), 'द संघ परिवार्स इनीशिएटिव्ज़ इन द ट्राइबल बेल्ट ऑफ़ वायनाड इन केरल', आनंद तेलतुम्बड़े (सं.), *हिंदुत्व ऐंड दलित्ज़ : पर्सपेक्टिव्ज़ फ़ॉर अंडरस्टेंडिंग कम्युनल प्रैक्सिज़,* साम्य, कोलकाता.

दंत्तोपंत ठेंगड़ी (2015) 'सामाजिक समरसता : समता की पूर्व-पीठिका', राकेश सिन्हा (सं.), *सामाजिक क्रांति का दर्शन,* भारत नीति प्रतिष्ठान, नयी दिल्ली.

डॉ. महेश चंद्र शर्मा (2018) *दीनदयाल उपाध्याय : कृतित्व एवं विचार,* प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली.

दीनदयाल उपाध्याय (2001), *एकात्म मानववाद,* जागृति प्रकाशन, नोएडा.

निर्मल कुमार बोस (1941), 'द हिंदू मैथड ऑफ़ ट्राइबल एब्ज़ोर्प्शन', *साइंस ऐंड कल्चर,* खण्ड सात, अंक 4.

नैशनल इलेक्शन सर्वे 1998 (एनईएस 1998), आँकड़ा एकांश, विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस), दिल्ली.

प्रणब ढाल सामंत (2017), 'द पार्टी, विद अ डिफ़रेंस', द *इकॉनॉमिक टाइम्स,* नयी दिल्ली.

प्रदीप कुमार दत्त (1993), 'डाइंग हिंदूज़' : प्रोडक्शन ऑफ़ हिंदू कम्युनल कॉमनसेंस इन अर्ली ट्वेंटियथ सेंचुरी' *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 28, अंक 25.

प्रलय क़ानूनगो (2002), *आरएसएसज़ ट्रिस्ट विद पॉलिटिक्स : फ़्रॉम हेडगेवार टू सुदर्शन,* मनोहर, नयी दिल्ली.

..................(2006), 'मिथ ऑफ़ द मोनोलिथ : द आरएसएस रेसल्स टू डिसिप्लिन इट्स पॉलिटिकल प्रोजिनी', *सोशल साइंटिस्ट,* खण्ड 34, अंक 11/12

प्रज्ञा कौशिका (2017), 'आरएसएस आउटफ़िट वांट्स *मनुस्मृति* रिवर्स्ड'. द *इंडियन एक्सप्रेस,* 14 मई.

पार्थ चटर्जी (2005), 'सेकुलरवाद और सहिष्णुता', अभय कुमार दुबे, *बीच बहस में सेकुलरवाद,* लोक-चिंतन ग्रंथमाला, वाणी-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

बद्री नारायण (2009), *फ़ेसिनेटिंग हिंदुत्व : सैफ्रॅन पॉलिटिक्स ऐंड दलित मोबिलाइज़ेशन,* सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

बलराज मधोक (1969), *इंडियनाइज़ेशन? व्हाट, व्हाई ऐंड हाउ,* भारतीय साहित्य सदन, नयी दिल्ली.

बी.के. रॉय-बर्मन (1983), 'ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ ट्रायब्ज़ ऐंड एनालोगस सोशल फ़ॉर्मेशन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 18, अंक 27.

भाजपा अध्यक्ष बंगारू लक्ष्मण का वक्तव्य, http://ftp.lkadvani.in/hi/national-executive-2015/2000/president-shri-bangaru-laxmans-address-to-the-national-council-at-nagpur-maharashtra.

मुंजे पेपर्स (1923).

भाजपा द्वारा 1991 में प्रकाशित दस्तावेज़ *मिड टर्म पोल टू लोकसभा, मई 1991 : अवर कमिटमेंट टुवर्ड्स रामराज्य,* नयी दिल्ली.

मैरिज़ा कैसोलरी (2000), 'हिंदुत्वाज़ फॉरेन टाइ-अप इन द नाइंटीन थर्टीज़ : आर्काइवल एविडेंस', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 35, अंक 4 : 218-228.

मोहनदास कर्मचंद गाँधी (1924), *यंग इण्डिया,* 9 मई.

मोहिंदर सिंह (2018), 'अ क्वेश्चन ऑफ़ लाइफ़ ऐंड डेथ' : कनवर्ज़न, सेल्फ़, ऐंड आइडेंटिटी इन स्वामी श्रद्धानंद्ज़ ऑटोबायोग्राफ़ी', अप्रकाशित.

राकेश सिन्हा (2015), *बिल्डर्स ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया : डॉ. केशवराव बलिराम हेडेगेवार,* पब्लिकेशन डिवीज़न, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली.

राकेश सिन्हा (सं.) (2015), *सामाजिक क्रांति का दर्शन, भारत नीति प्रतिष्ठान,* नयी दिल्ली.

.................(सं.) (2017), *इज़ हिंदू अ डाइंग रेस : अ सोशल ऐंड पॉलिटिकल पर्सपेक्टिव ऑफ़ हिंदू रिफ़ॉर्मर्स इन अर्ली ट्वेंटियथ सेंचुरी,* कौटिल्य प्रकाशन, नयी दिल्ली.

राम पुनियानी (2005), 'हिंदुत्वाज़ सोशल इंजीनियरिंग', आनंद तेलतुम्बड़े (सं.), *हिंदुत्व ऐंड दलित्ज़ : पर्सपेक्टिव्ज़ फ़ॉर अंडरस्टेंडिंग कम्युनल प्रैक्सिज़,* साम्य, कोलकाता.

लक्ष्मण कुमार महापात्र (2006), *अंडरस्टेंडिंग ट्राइबल ट्रांसफॉर्मेशन इन इण्डिया,* आईजीएनसी मेमॅरियल लेक्चर सीरीज़, नयी दिल्ली.

लाजपत राय (1967/1992), *अ हिस्ट्री ऑफ़ द आर्य समाज,* ओरिएंट लोंगमेन, नयी दिल्ली.

वर्जीनियस खाखा (1999), 'ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ़ ट्रायब्ज़ इन इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 34, अंक 24.

विनय नलवा (2019), 'सावरकर : द रिफ़ॉर्मर', *द इंडियन एक्सप्रेस,* 29 मई.

विलियम रेडिस (सं.) (1999), *स्वामी विवेकानंद ऐंड द मॉडर्नाइज़ेशन ऑफ़ हिंदुत्व,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

वीरभारत तलवार (1993), 'बजरंगबली, गौमांस और आदिवासी : झारखण्ड क्षेत्र में संघ के काम का तरीक़ा', अभय कुमार दुबे (सं.), *साम्प्रदायिकता के स्रोत,* विनय प्रकाशन, नयी दिल्ली.

वॉल्टर के. एंडरसन और श्रीधर डी. दामले (2005), 'आरएसएस : आडियोलॅजी, ऑर्गनाइज़ेशन, ऐंड ट्रेनिंग', क्रिस्तॉफ़ जैफ़्रेलो (सं.), *द संघ परिवार : अ रीडर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

श्री गुरुजी समग्र, सुरुचि प्रकाशन, नयी दिल्ली, खण्ड 9.

शम्सुल इस्लाम (2010), *आरएसएस प्राइमर : बेस्ड ऑन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ डॉक्युमेंट्स,* फ़ैरस, मीडिया ऐंड पब्लिशिंग, नयी दिल्ली.

संजय कुमार सिंह (2009), 'कंसेप्चुअलाइजिंग रिलीजियस चेंजेज़ एमंग भील्ज़ ऑफ़ वेस्ट निमाड़', धर्मेंद्र कुमार और यमुना सनी (सं.), *प्रोसेलिटाइज़ेशन इन इण्डिया : द प्रोसेज़ ऑफ़ हिदुआइज़ेशन इन ट्राइबल सोसाइटी,* आकार, नयी दिल्ली.

संजीव केलकर (2011), *लॉस्ट इयर्स ऑफ़ आरएसएस,* सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

संदीप पेंडसे (2005), 'द दलित्ज़ ऐंड हिंदुत्व : गेनर्स ऐंड लूज़र्स', आनंद तेलतुम्बड़े (सं.), *हिंदुत्व ऐंड दलित्ज़ : पर्सपेक्टिव्ज़ फ़ॉर अंडरस्टेंडिंग कम्युनल प्रैक्सिज़,* साम्य, कोलकाता.

स्वामी श्रद्धानंद (1926), 'हिंदू संगठन : सेवियर ऑफ़ द डाइंग रेस', राकेश सिन्हा (सं.) (2017), *इज़ हिंदू अ डाइंग रेस : अ सोशल ऐंड पॉलिटिकल पर्सपेक्टिव ऑफ़ हिंदू रिफ़ॉर्मर्स इन अर्ली ट्वेटियथ सेंचुरी,* कौटिल्य प्रकाशन, नयी दिल्ली.

स्वामी गम्भीरानंद (1994), *युगनायक विवेकानंद,* पहले खण्ड के (अनु.) केदारनाथ लाभ और दूसरे खण्ड के (अनु.) स्वामी विदेहात्मानंद, रामकृष्ण मठ, नागपुर.

स्वामी दयानंद (1875/2005), *अथ सत्यार्थ प्रकाश,* वैदिक पुस्तकालय.

सी.पी. भिशीकर (1999), *श्री गुरुजी : पायनियर ऑफ़ अ न्यू इरा,* (अनु.) सुधाकर राजे, साहित्य सिंधु प्रकाशन, बंगलुरु.

.... (2013), *केशव : संघ निर्माता,* सुरुचि प्रकाशन, नयी दिल्ली.

सावरकर समग्र (2000), 'मनुस्मृति में महिलाएँ', प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, खण्ड 4.

................(2000), खण्ड 7.

सुधा गोगटे (1973), 'सोसियोलॅजी ऑफ़ रिवाइवलिज़म बाय के.के. गंगाधरन', *सोसियोलॅजीकल बुलेटिन,* खण्ड 22, अंक 1.

सुमित सरकार (1993), 'संघ परिवार का फ़ासीवाद : युरोपीय फ़ासीवाद से समानताओं और विभिन्नताओं की एक चर्चा', (अनु.) मनोहर नायक, अभय कुमार दुबे (सं.), *साम्प्रदायिकता के स्रोत,* विनय प्रकाशन, नयी दिल्ली.

सुभाष गाताडे (2004), 'सावरकर ऐंड संघ : अ मडल्ड इक्वेशन', *द हिंदू,* 21 सितम्बर.

सुरेश शर्मा (1996), 'सावरकर्स क्वेस्ट फ़ॉर मॉडर्न हिंदू कंसोलिडेशन', *स्टडीज़ इन ह्यूमैनिटीज़ ऐंड सोशल साइंसेज़,* खण्ड 2, अंक 2.

सुहास पल्शीकर (2005), 'महाराष्ट्र : दलित पॉलिटिक्स इन हिंदुत्व ट्रैप', आनंद तेलतुम्बड़े (सं.), *हिंदुत्व ऐंड दलित्ज़ : पर्सपेक्टिव्ज़ फ़ॉर अंडरस्टेंडिंग कम्युनल प्रैक्सिज़,* साम्य, कोलकाता : 208–223.

सौम्या (2008), 'कम्युनलिज़म : नैरेटिव्ज़ इन छत्तीसगढ़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 43, अंक 2.

'हिंदुत्व', *सावरकर समग्र,* खण्ड 9, प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली.